

प्रकाशक : बसन्त श्री. सातवलेकर, बी. ए.

स्वाध्याय मंडल, आनन्दाश्रम, पारडी (सुरत)

चतुर्थवार

संवत् १९०६, सन १९४९

मुद्रक व श्री सातवलेकर, बी. ए.

भारत मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, पारडी (सुरत)

ईशोपनिषद्

पञ्चुर्वेद अध्याय पालीसवी

सूक्तिका



(१) पञ्चुर्वेदकी संक्षिप्तार्थ

यद्वैतकी चर्चा कीरित्ये एव कथं कथयन्तः । (१) काण्ड (१)
मार्कण्डेयः काण्डसमेपी (१) मैत्रायणी (४) काण्ड (५)
सिद्धिरीच (१) कपिलस्य काण्ड इत्ये काण्ड और मार्कण्डेय
कीरित्ये कीरित्य कथं च वे अथर्ववे अथर्ववे " च विचार दिना
है । यही वेदका अन्तिम अध्याय होनेसे वेदका अन्तिम भाग अर्थात् " वेदका
अन्त " होनेसे एव काण्डका विचारणी " वेदका " (वर+अन्त) कहते हैं ।

काण्ड-कीरित्यका का अन्तिम च यो अध्याय है यही " ईशोपनिषद् "
काण्डे एव सम्यक् प्रकटित है । मार्कण्डेय काण्डका काण्डके कीरित्ये
वे अध्यायके वंश वेदका १० हैं, और काण्ड काण्डकी कीरित्ये १८ वंश हैं,
इत्ये कीरित्य कुछ प्रकटित भी है । दोनों काण्ड एव पुराणमें दिने हैं यद्यपि
अनेक काण्डकी काण्डकीरित्यका एव पद्य काण्डका ।

(२) अध्यायका नाम ।

यह्यवदके प्रत्येक अध्यायका उद्देश विशेष होता है, और संपूर्ण उद्देश नाम होता है । इस २० में अध्यायका नाम "आत्मज्ञान" है । कोई इसका 'आमाज्ञान, मज्ञान, आत्मज्ञान, मज्ञान, ईशज्ञान' आदि कहो है । इन सब शब्दों का भाव एक ही है । इसका नाम "ईशोपनिषद्" समझने दी है । इस नामका भाव भी नहीं आता स्पष्ट करता है, कि इसमें "ईशरी विद्या" समझा "आमाज्ञान" है । जिस मूलमें जो दयाता हुआ जानी है उस देवताओं अनुसार उस मूलका नाम हुआ जाता है । ऐसा "अग्नि, ईश" आदि देवताओंके मूलोंका नाम "अग्निमूल, ईशमूल" आदि होता है । इसी रीतिसे अनुसार इस अध्यायमें "आमा अथवा प्रज्ञा" का उद्देश होनेसे इसका नाम "आमाज्ञान, आत्मज्ञान" ऐसा प्रज्ञाका नाम स्थापना की है । परन्तु यहाँ नई विचार लेनी चाहिये कि इसमें "आमा" आदि मित देवताओंके नाम आनेसे काग्य यह सब अध्याय एक ही स्वताका वर्णन नहीं करता है, अथवा ईशानात्मके भिन्न जो आमा आदि देवताका वर्णन इस अध्यायमें है, यह प्रसिद्ध है । इसलिये इस आशका से यहाँ आधेक विचार करना आवश्यक है ।

इस अध्यायका देवता का विचार करनेके पूर्व इस बातको कहना योग्य है कि, जिस समय दशापनिषद् अथवा एकादशोपनिषद्का सप्रह स्कन्धा हुआ, अथवा एकत्रित किया गया, उस समयसे अग्नि आदि देवताओंके मन्त्र इसमें, गर्व समतिसे, माने गये हैं । उक्त उपनिषदोंका सप्रह आजकलका नहीं है । सहस्रों वर्ष पूर्व उनका सप्रह हो चुका था कि जिस समय वैदिक विद्याकी परिपाटी जीवित और जाग्रत थी । उस समयसे 'ईशोपनिषद्' में उक्त मन्त्र चले आये हैं, और ईशोपनिषद्का कोई ऐसा पाठ नहीं है कि जिसमें "अग्ने नय" आदि मन्त्र नहीं ह । इस परिपठके क्रमका विचार कोटीमें रखनेसे पता लग जायगा कि, 'अग्ने नय' आदि मन्त्र प्रक्षिप्त नहीं हैं । तथापि इस देवता-विचार करके ही इस बातका निश्चय करेंगे ।

(३) इस सूक्तकी देवता ।

यिष सूक्त कावरा यंत्रमें विन्यास कर्त्तव्य होता है उस सूक्त यिष यंत्रकी यह देवता समझी जाती है । यिषी यिषी सूक्तमें देवता-वाचके एक ही नाम प्रारम्भके अंततक प्रयुक्त हुआ होता है परंतु कई ऐसे सूक्त हैं कि, यिषमें एक ही देवताके वाचक अनेक नाम उस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें प्रयुक्त होते हैं । यिषमें देवताका एक ही नाम प्रयुक्त होता है, उस सूक्तकी देवताके विषयमें उल्लेख ही होता है, कदापि यिष सूक्तमें विविध नामोंका उल्लेख होता है, उस सूक्तकी देवताके विषय करनेमें संशय उत्पन्न होती है । इसी हेतुसे इस अध्याय की देवताके विषयमें कई विज्ञापनोंके उल्लेख हुआ है, इसलिये इस सूक्तकी देवताका क्या विचार करेंगे । देखिए, देवता विन्यासी रीति यह है कि प्रथम प्रत्येक मंत्रकी देवता—सूक्त काय देवता जानिये कि—

मंत्र	देवतासूचक	परिचय
(कावकल्पेदी संक्षिप्त)	सम्य	
१ ईका वाच	ईका	ईका
१ इर्वेदे	"	
१ कावरा नाम		
४ अनेकदेव	एक, काव	
५ उदेवति	काव	१
६ कावरा नामि	कावरा	कावरा
७ कतिवत्तना	"	
८ ३ ईकावा	का, यिषी	यिषी
९ १४ कावरा नाम		
१० कावरा नाम	३	३
११ अनेक	यिषी	यिषी

१७ हिरण्मयेन

सत्य

सत्य

पुरुषः

पुरुष

ब्रह्म

ब्रह्म

(काण्व-संहिता)

१६ पूषणैकर्षे

पूषा

पूषा

यम

यम

देवतावाचक जो शब्द हैं, उनमें सर्वनाम, विशेषण आदि छोड़कर जो मुख्य शब्द हैं, वे “ईश, आत्मा, कवि, ओम्, अग्नि, सत्य, पुरुष, ब्रह्म, पूषा, यम” ये हैं। वैदिक रीतिसे ये सब शब्द एकही देवताके सूचक हैं। “ब्रह्म, आत्मा, ओं, पुरुष, सत्य” इन शब्दोंके विषयमें किसीको शंकाही नहीं हो सकती। जो कोई शंका है, वह “पूषा, यम, अग्नि” इत्यादि शब्दोंके विषयमें है। इसलिये इसका विशेष विचार करना चाहिये।

(४) अनेक नामोंसे एक तत्त्वका वर्णन ।

यदि यह सूक्त “आत्म-ज्ञान” का प्रतिपादक है, तो यह बात स्वयही सिद्ध होगी कि “एकही आत्माके सब नाम हैं।” यह अध्यात्मशास्त्रकी कल्पना माननेसे विभिन्न देवताओंके नामोंसे एकही “आत्मा” का प्रतिपादन होता है, वेदकी भी यही कल्पना है--

इन्द्रं मित्र वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एक सवित्रा बहुधा वदन्त्याग्निं यम मातरिश्वानमाहु ॥

(ऋ० १।१६।४६)

“एकही सद्बस्तुका ज्ञानी जन बहुत प्रकार वर्णन करते हैं। उसी एकको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं।” इस मन्त्रमें “अग्नि, यम” आदि शब्द हैं जोकि ईशोपनिषद्में तथा षा० य० अ० ४० में आगये हैं। इस मन्त्रसे यह बात सिद्ध होती है कि, नामोंके भेदसे देवता भेद नहीं होता। यदि यह ऋग्वेदका कथन माना जायगा, तो बहुतसे विवाद मिट

“ वह आत्मा हम सबका पिता, जनक और वधु है । वह सब भुवनों और स्थानोंको यथावत् जानता है । (य देवानां नामध) वह सब देवोंके नाम अपने लिये धारण करता है । और वह केवल एकही है । उस प्रश्न करने-योग्य आत्माके आधारसे सब अन्य भुवन अर्थात् पदार्थ रहते हैं । ” इस वर्णनमें निम्न वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

यः एक एव, देवाना नाम-धः ।

“जो एक ही, देवोंके नाम धारण करता है ।”

“ अग्नि ” आदि देवताओंके नाम उसीका वर्णन करते हैं, इसलिये ये नाम उसके वाचक होते हैं । यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदमें हैं । विष्णोपत जिस यजुर्वेदके ४० वें अध्यायका हम विचार कर रहे हैं, उसीके १७ वे अध्यायमें यह मन्त्र है । उसलिये इस अंतर्गत प्रमाणसे भी “ अग्नि ” आदि नाम उस आत्माके वाचक सिद्ध होते हैं । आत्माध्यायमें सगृहीत होनेसे अग्नि आदि पदोंका आत्मा अर्थ स्पष्ट ही था, परन्तु इस अंतर्गत प्रमाणसे वही बात पुन सिद्ध हो गई है । और देखिये—

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि, त्व विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।

त्व ब्रह्मा रथिविद् ब्रह्मणस्पते० ॥ ३ ॥ त्वमग्ने राजा वरुणो

धृतव्रतस्त्व मित्रो भवासि दस्म इन्द्र्य । त्वमर्यमा सत्पति० ॥ ४ ॥

त्वमग्ने त्वष्टा० ॥ ५ ॥ त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिव ॥ ६ ॥

(ऋ. २।१)

“ हे अग्ने ! तूही इन्द्र है, सद्यस्तुओंमें बलवान् तू ही है, नमनके लिये योग्य विष्णु है, तू ही ब्रह्मा है ॥ हे अग्ने ! तू वरुण राजा है और स्तुत्य मित्र तूही होता है, तूही अर्यमा है ॥ तू त्वष्टा है, तू रुद्र है । ” इत्यादि मन्त्रोंमें अग्नि ही अन्य देव है, ” यह बात स्पष्ट कही है । इसी प्रकार अन्य देवताओंके सूक्तोंमें भी वे अग्नि ही हैं ऐसा भी वर्णन है । इस सब वर्णनका तात्पर्य ही यह है कि सब देवताओंके नाम एक ही “ आत्मतत्त्व ” का वर्णन करते हैं । तैयों—

अग्नावग्निध्वराति प्रविष्ट ॥ (वा य ५।४, अथर्व० ४।३९।९)

ऋचं वाच पचाध्यायी दध्यङ् आथर्वणो ददर्श ।

(यजु सर्वाङ्कमणी ४।५)

यजु अ ३६ से ४० तक के पांच ही अध्यायोंका “दध्यङ् अथर्वो” ऋषि कहा है । यही भाव शतपथमें भी है—

दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेत यस्त विदांचकार ।

(श ब्रा १४।१।१।२०)

इस प्रकार यजुर्वेदके अंतिम पचाध्यायीका “दध्यङ् अथर्वो” ऋषि है । यही भाव अन्य भाष्यकार स्वीकार करते हैं—

(१) आत्मदेवत्य अनुष्टुप्छन्दस्कोऽध्यायो दधीचाथर्वणेन दृष्टः ।

(महीधरभाष्य)

(२) ईशा वास्य । तिष्ठोऽनुष्टुभः । दध्यङ् आथर्वण ऋषिः ।

(उवट भाष्य)

“ईशावास्य आदि अध्यायका दध्यङ् अथर्वो ऋषि है ।” इस अथर्वोका ब्रह्मवर्णनके साथ वेदमें सबध है । प्रत्यक्ष अथर्ववेदका नाम ही “ब्रह्मवेद” है । देखिये—

“ब्रह्मवेद”

श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये सवभूव ॥

(गो ब्रा १।९)

एतद्वै भूयिष्ठ ब्रह्म यद् भृग्वगिरस । येऽङ्गिरसः स रस । ये

ऽथर्वणस्तद्भेषजम् । यद् भेषज तदमृतम् । यदमृत तद् ब्रह्म ।

(गो ब्रा ३।४)

“चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदो ब्रह्मवेदः ।”

(गो ब्रा २।१६)

“चार वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद” इसमें अथर्ववेदका नाम “ब्रह्मवेद” आया है । अथर्ववेदमें आत्मा और ब्रह्मके सूक्त बहुतही

है। अथवा अवर्गों काभिने कथम् मया' काभिने मय इत वैसे काभिने है। इसकािने यी इत्यथ वाग मयोर अवर्गवत् है। इसी मयविचारके ध्वन संभव रहनेकाय " अवर्ग " यह काविनाम है इसाभिने दोनक्यों इस नामकी अनुपेक्ष निम्न प्रकार की है-

तद्यद्वर्गदीदृषादीकैर्ब जन्मिष्येति तद्यद्वर्गोऽभवत् ।

(वी. म. १।४)

"इत्ये अवर्गों इसाभिने क्या क्या कि, इसने (अव वर्गों इत जन्मिष्य) इसने क्या ही इत ऐसा क्या। " अवर्ग-अवर्ग " ऐसा कावेते अवर्गों क्या क्या। इत्यथ तात्पर्य यह है कि परमेश्वरको धरि क्या इतते हो यही अपने अंदर इसने इतने ऐसा बिजने क्या यह अवर्गों कावेते प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार अवर्गों काव्यथ वर्ग किह कर रहा है कि, इत्यथ काव्यविचारके ध्वन संभव है। तथा-

अवर्गवत्ता अवर्गवत्तः । पर्वतिव्यतिरिक्तार्ता तत्प्रातिपेक्षः ।

(वि. म. १।१।१।५)

"अवर्गवत्त वर्ग 'तिर' है। 'वर्गवत्त वर्ग वति है इसाभिने "अ-वर्ग" का वर्ग पति-रहित है। बोधायन्य करमके पञ्चात् को अवर्गों तिरता एवमता अवर्गवत्त किह होती है, कथन वर्तक यह कथ्य है। तिरकुडि, तिरतपक पञ्चागित्त बोधो यह इत्यथ वाग है। इस प्रकारके बोधोय मयविचारके ताव तव्य होना स्पष्ट ही है। इसाभिने इस अवर्गवत्त अवर्ग " काविनाम क्या रहा है कि इस अवर्गवत्त मयविचार किना काव्य-विचार हुआ है, तथा इसने कथि हुए " अति " वाग एवा, पुन " अति कथ्य इस प्रकारकी काव्यावाक्य अवर्ग मयवत्त ही विद्यन्ते हैं।

देवकथ्य विचार और काविनाम्य विचार करनेके " अति " कादि कथीक माग काव्यविचार ही इस अवर्गवत्त होना बोध्य है, यह बात किह हो प्ये।

(६) ईश उपनिषद्का महत्त्व ।

सब अन्य उपनिषद् प्राग्ना और आरण्यके ग्रंथोंमें हैं । यह एक ही उपनिषद् ऐसा है कि आं मंत्र संहितामें है । प्राग्नाओं और आरण्यकोंकी अपेक्षा मंत्र संहिताका मान और प्रामाण्य विशेष होनेसे ही इस ईशोपनिषद्की पहिली स्थान प्राप्त हुआ है । यही एक " मन्त्रोपनिषद् " है । और इसीके आधारपर अन्य उपनिषदोंका रचना हुई है । जो ज्ञान अन्य उपनिषदोंमें है वह इसमें है, परंतु जितना उपदेश इसमें है उतना अन्य उपनिषदोंमें है ऐसा नहीं कहा जा सकता । अन्य उपनिषदोंकी व्याख्या करनेके प्रसंगमें इसका सप्रमाण विचार किया जायगा, और वहाही जिस उपनिषद्का इसके किम मन्त्रमें कैसा संबंध है, यह बताया जायगा । उदाहरणके लिये यहां इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि—

(१) केन उपनिषद्- " नैनद्देवा आप्नुवन् " इस ईशोपनिषद्के मन्त्रभाग (वा० य० ४०।४, ईश उ० ८) की व्याख्या है । इसका विशेष स्पष्टाकरण " केन उपनिषद् " की भूमिकामें किया गया है ।

(२) बृहदारण्यक उपनिषद् ईशोपनिषद्की दीटती टीकाही है । संपूर्ण यजुर्वेदके ४० अध्यायोंपर " दीटती टीका " ही शतपथ ब्राह्मणके १४ कांड हैं । इससे स्पष्ट है कि, यजुर्वेदके अंतिम ४० वे अध्यायकी टीका १४ वे कांडमें है । १८ वां कांडही बृहदारण्यक है । जो पाठक दोनोंकी परस्पर तुलना करेंगे, उनको यह विषय स्वयं स्पष्ट हो जायगा ।

इस प्रकार इस य० अ० ४० का अर्थात् ईशोपनिषद्का संपूर्ण आत्मविद्याके प्रथमभारमें अत्यंत महत्त्व है । ऐसा समझीये कि यह अध्याय सब आत्मविद्याके प्रथममें शिरस्थानमें अथवा मुख्य स्थानमें विराजता है । इसी कारण सब उपनिषदोंमें भी इसको प्रथम स्थानपर गिनते हैं ।

(७) इस अध्यायकी रचना ।

इस उपनिषद्की रचना बड़ी विचार करनेयोग्य और बड़ी विवेक्षण है ।

इसमें चार अधिकार हैं । जो कुछ अन्धकारनिवर्तक प्रकृत्य है, वह तब तब स्मृति और साधक स्मृति प्रथम अधिकारमें ही कहा गया है, तबपश्चात् ये अधिकारों में इन उपनिषद्वादी विस्तार प्रकृत्य स्वीकरण है । इसके अधिकार निम्न प्रकार हैं—

- (१) प्रथम अधिकार—सूत्र १ से १ मंत्रकी समाप्ति तक है ।
- (२) द्वितीय अधिकार—सूत्र ४ से ७ मंत्रकी समाप्ति तक है ।
- (३) तृतीय अधिकार—सूत्र ८ से १४ मंत्रकी समाप्ति तक है ।
- (४) चतुर्थ अधिकार—सूत्र १५ से अन्त्य समाप्ति तक है ।

प्रत्येक अधिकार समाप्त होकरी पुनः उस अधिकारमें वर्तन होने हुए ज्ञानकी एकमुद्रि करनेसे मिलती है । प्रत्येक अधिकारमें और सूक्तमें है तबका विचार अन्धकारकी व्याख्यासे किया जायगा । यही अधिकारके ज्ञानका बीजका स्वरूप बतलाता है—

अन्धकारमें हैका " इस एककसे " अनेक एक है । इसका अर्थ है कि, यद्यपि यही वास्तविक एककत्व माननेपर एककत्व होनेपर भी अनेक ईश्वर होनेकी कल्पना उत्पन्न हो सकती है । ऐसा मनुष्य " करनेसे (१) एक मनुष्य बनना (२) मनुष्यकी प्राप्ति ऐसे दोनों कार्य संभवता है । इस एकककी निवृत्तिसे होने द्वितीय अधिकारका उक्त अन्ध अधिकारोंका प्रारम्भ है । ऐक्य—

प्रथम अधिकार— हैका " ईश्वर एक है ।

द्वितीय अधिकार— " एक " वह एकही है ।

" अनेक " वह नहीं मिलता ।

पूर्व " वह सभी प्राणी है ।

तृतीय अधिकार— " स पर्याप्त " वह व्यापक है ।

" परि-भू " सर्वोपरि है ।

" स्वर्ग-भू " स्वयं अपने ही आधारों है ।

चतुर्थ अधिकार— " यही " वह प्राप्त है ।

इस प्रकार प्रथम अधिकारके कथनका अधिक स्पष्टीकरण अन्य अधिकारोंमें है । इसका यत्न निम्न प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट होगा—

प्रश्न—इस जगत्का स्वामी कौन है ?

उत्तर—इसका स्वामी ईश्वर है और वह सर्वत्र है । (ईश.)

प्र० — ईश्वर कितने हैं ?

उ० — ईश्वर एकही है, अनेक नहीं हैं । (एक)

प्र० — यह यही आ सकता है ?

उ० — यह सर्वत्र है, इसलिये एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेकी उसको आवश्यकता नहीं है । (अनेकत्)

प्र० — वह कबसे है ?

उ० — वह हमसे प्राचीन है, उसके पूर्ण कोई भी नहीं है ।

(एवं)

प्र० — वह कहाँ रहता है ?

उ० — वह सर्वत्र पैला है । (स पर्यगात्) कोई स्थान उसमें रहित नहीं है । वह सबसे श्रेष्ठ है । (परिभूः)

प्र० — वह किस आधारसे रहता है ?

उ० — वह अपनीही शक्तिसे रहता है । (स्वयभूः)
उसके लिये किसीके आधारकी आवश्यकताही नहीं है ।

प्र० — क्या वह भविष्यमें भी रहेगा ?

उ० — वह त्रिकालाबाधित है । (सत्य) वह सर्वदा एक जैसाही रहता है ।

इस प्रकार एकही यातना विस्तार क्रमशः इन अधिकारोंमें हुआ है । प्रत्येक पद पदका परस्पर संबन्ध देखनेसे और सूक्ष्म-विचारके साथ उनका आशय समझनेमें बड़ाही आनन्द प्राप्त हो सकता है, और अध्यात्म विद्याके गूढ़

विशेष विचार ही करते हैं । ऐसा "एक ईश्वर" के विषयमें प्रथम बारिकार-
से वर्णित पाठोंमें स्वीकारण कोपेके अधिकारोंमें हुआ है । कही तत्पर अन्वय
विषयोंमें भी है । इसीमें पट्टक इस वृत्तिमें इस अन्वयका सम्भाव्य नीर
कम है ।

(८) माध्यकारोंका कथन ।

यह कथनमें इस अन्वयके विषयमें अनास्तमिक पाठोंमें प्रथम किता
है, ऐसा—

(१) श्री संकटचार्मकी करते हैं कि "ईश्वर-स्वभावको संशय
कर्मस्वभावमुक्त । ऐसे अन्वयविषयको वाच्यम्भक्तकथनात् ।
वाच्यत्वं न कथयत्वा । इत्यथाप्यभिहितमस्मिन्नाकर्तृकत्वमर्थ
त्परिकल्पनात् । तत्र कर्मका विवक्षते । इति कुछ एवम् कर्मस्व-
विशेषः । (ईश्वर-भाव)

" ईश्वरस्वभावमिदं कर्मोत्तरं विविक्तं कही हुए है क्योंकि इस
कर्मोत्तरमें अस्मात्त्व कथन कर्म है । अस्मात्त्व कुछ, अस्मात्त्व इस, किन्तु
अकर्तृक कर्मस्वभाव अति गुणोंमें कुछ है, ऐसा जो कर्म इस अन्वयमें
है, यह कर्मोंमें विरोधी है, इसीमें इस मंत्रीका विविक्त कर्मोंमें न होना ही
कुछ है । "

जो पूज्य संकटचार्मकी की यह कुछ वास्तविक प्रथम नहीं है, कही
वास्तविक कथनी है । यदि अस्मात्त्व कर्म होवे तो मंत्रीका विविक्त कर्मोंमें
नहीं होना चाहिए तो कुछ न १२ के मंत्रीमें एवम् अस्मात्त्व कर्मों में
तत्परि "कर्मस्वभाव" नामक बहुवचनमें इस अन्वयका विविक्त देखा गया
है । अस्मात्त्व जो कुछ, विचार, एक वादि पुन इस अन्वयमें कर्म
में न है, वेही कही अन्वयमें है । विधि—

सर्वमेवकार्थ ।

ईश्वरविषय ।

(बह. अ. १२)

(बह. अ. ४)

सर्व (मंत्र १)

सर्व (मंत्र ८)

अमृत (म १०) अपोपविद्ध (११)
 तत् (म ११) एक (म १४)
 ऋत (म १२) (सत्य) नित्य (म १५)
 न प्रतिमा (म ३) अकाय (म ८)
 विभू (म ८१) पर्यगात् (११)

इस प्रकार जो गुण आत्माके वर्णन रूपमें दिये गये हैं वे सब अध्याय ३२ में हैं, तथापि अध्याय ३२ कर्ममें विनियुक्त है और अध्याय ४० नहीं है। इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं है।

इस प्रकारके कथनसे जो दृष्टा दोषारोप वेदके सहिताओंपर आता था, और जिमसे अन्य मंत्रोंमें आत्माका वर्णन नहीं है, ऐसा जो आशय व्यक्त होता था, उसी बातका खंडन यहां किया है।

मंत्रोंको जबरदस्ती किसी कर्ममें विनियुक्त करनेसे ही केवल उनमें जो आत्मविद्या है, वह दूर नहीं हो सकती। इसका उत्तम उदाहरण यजु अ० ३२ है। इसकी व्याख्या (‘एक ईश्वर उपासना’ नामसे) स्वतंत्र रूपसे छपी है। पाठक इस स्थानपर उसको अवश्य देखें और अनुभव करें, कि उसमें भी कितनी आत्मविद्या है। अस्तु। यहां कहना इतनाही है कि, वेदकी सहिताओंका मुख्य वक्तव्य “आत्माका वर्णन” ही है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ।

‘सब वेद उस आत्माका वर्णन करते हैं।’ यही सत्य है,

इस प्रकार भाष्यकारोंने अपने पूव ग्रहणी म्यान स्थानपर बताया है। इसका और एक उदाहरण देखिये—

(९) वेदान्तके अध्ययनका काल ।

इस अध्यायके अध्ययनके कालके विषयमें लिखते लिखते श्री० उषट और महीधर ये दोनों आचार्य लिखते हैं—

* सत्यम् कर्मचरं इदानीं कामचरं प्रहृत्यते ॥ १

२२ । दत्तकपुत्रत्वेन गृह्णीतः कश्चित् पुत्रं वा
कर्मावसानादिभिः संतप्तमैः संस्तुयन्तीति, अनीतत्वेन
कृतारित्युक्तं ॥ विष्णुस्मृत्यौ ३११ (अध्यायः ४८, ४ । १)

२० एषोऽप्यन्यथा विदितव्यः । न चैतद्वैतं निवृत्तम् । इदानीं
कर्माचारमनुष्ठानं कर्तव्यं इति ज्ञानमप्यस्यैवैव
अप्यनेन विदितम् । ईशा वास्तविकानि यंत्राणां
कर्मणु निमित्तोपेयं वास्ति । तेषां ज्ञानात्कथापय-
नित्वापत्तौ तत्कर्म कथापयन्यापत्तौ विदितम् ।
तस्य कर्मा विदितम् । ईशा वास्तविकं ज्ञानमप्यो
इदानीं कर्मा विदितम् । कर्माचारमनुष्ठानं कर्तव्यं इति ज्ञानमप्यस्यैवैव
अप्यनेन विदितम् । ईशा वास्तविकानि यंत्राणां
कर्मणु निमित्तोपेयं वास्ति । तेषां ज्ञानात्कथापय-
नित्वापत्तौ तत्कर्म कथापयन्यापत्तौ विदितम् ।

(परीक्षास्थान ४ ११)

(१) यह कि ३९ एक वर्षीय उमरा हुआ एक राजपूत राजा
मारम होला है। १३

“ (१) दण्ड आदेश कबि जसो पुत्र अवध क्षिप्र ही हय अन्धकार
 कपरीय मर्या है सो क्षिप्र जसो पुत्र लसीकापदि अन्धकारि सुखदण्ड है
 विजये देवद अन्धकार कण्ठ भिदा है और पुत्र कण्ठ भिदे हैं । ”

ये ही कर्म अन्त होनी ज्ञानोंमें समाप्त हो हैं। पहिले कर्मकर्म कांम भी कर्मकार्मार्थि नतनी समानोपका नरनेके कर्म कर्म ही हैं। अब दूसरे कर्मकर्म विचार करना । जिसमें तां विरक्त हृदिसे एकर नामम् अन्तर्धर्मे एका है। उक्तने जिने विरक्त समान चन्दे प्रयत्निकाका धर्मकर्म करैका अधिकार हया। पुन कर्मकर्म कर्मके पूर्ण वह अन्तर्धर्मे प्रविष्ट हो कर्मकर्म है, जैसे कि भी कर्मकार्मार्थि कर्म कर्म है। फल भी कर्मकर्म हीका चाहते हैं ऐसे कर्मकर्म कर्मके जिने भी कर्म कर्म होनी कर्मकार्मार्थि कर्मने माध्यमे विचार है उक्तने एक कर्मकर्म हीका है कि पुन कर्मकर्म कर्मके कर्मकर्म ही का

इस ईश उपनिषद्का अध्ययन कर सकता है। अर्थात् ब्रह्मविद्याके अध्ययनका प्रारम्भ करनेका समय पुत्र उत्पन्न होनेके पश्चात् है। परन्तु यही बड़ा भारी भ्रम है। अथर्ववेदमें ब्रह्म साक्षात्कारका फल वर्णन किया है, वह यहाँ देखिये—

यो वै ता ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।

तस्मै ब्रह्म च ग्राह्याश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥

न वै त चक्षुर्जहाति न प्राणो जरस पुरा ।

पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

(अथर्व १० । २)

“ जो अमृतमय ब्रह्मपुरीको जानता है, उसको ब्रह्म और अन्य देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, उसके चक्षु और प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोड़ते । ”

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे उस ब्रह्मज्ञानीको सुदृढ इन्द्रिय, दीर्घ आयुष्य और सुप्रजानिर्माणकी शक्ति प्राप्त होती है। यह ब्रह्मज्ञानका फल है। वेदातशास्त्रके अनेक लाभोंमें “ सुप्रजानिर्माण-शक्तिकी प्राप्ति ” यह भी एक लाभ है। यदि यह सत्य है तो गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होनेके पूर्व ही ब्रह्मविद्याका अध्ययन होना चाहिये, और उसको ब्रह्मपुरीका पता लगना चाहिये। परन्तु उक्त आचार्य इस वैदिक सिद्धांतके विरुद्ध ही कह रहे हैं, कि पुत्रोत्पत्तिके पश्चात् यह उपनिषद् पढ़ें, इसलिये उनका मत चिंतनीय ही है। आत्मज्ञानसे गृहस्थके आचरणपर सुपरिणाम होता है, इसलिये ब्रह्मविद्याका अध्ययन गृहस्थाश्रमके पूर्वही होना आवश्यक है।

पाठक भी इस अध्यायके मननके पश्चात् जान सकते हैं कि, इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही है, कि जो पूर्व आयुमें ज्ञात होनेसे हानिकारक सिद्ध हो, प्रत्युत इस अध्यायके सबही उपदेश आबालवृद्धोंको अत्यन्त लाभदायक हैं, ऐसा प्रत्येक पाठक अध्ययनके पश्चात् अनुभव कर सकता है। इसलिये इसका अध्ययन पूर्व आयुमें ही होना आवश्यक है।

(१०) निष्काम-कर्मयोग ।

श्री कृष्णार्जुनकी कहेते हैं कि ज्ञान और कर्मका विरोध इस उपनिषद्में दे और कर्मत्र है । परंतु इस उपनिषद्का विचार करनेसे पता लग जाता है कि ज्ञान और कर्मका समुच्चय इसकी अभीष्ट है । वह उपनिषद् अपना वह अन्त्या कर्मयोगका विवेचन कहा है और कर्मकागम्य प्रकृतिक भी नहीं है । देखिये इससे मंत्रोंमें क्या क्या उपदेश कहा है ।

मंत्र १- "इत्येतेषु मुख्याः कर्म भावाः कर्माणि । ज्ञानपूर्वकं मोक्ष करनेका उपदेश कहा है । निष्काम-कर्मयोग का नीच इसमें है । अमिद्वयपद्मोत्तमं किं निष्काम कर्मको महती प्राप्ति भी नहीं है, कर्मका मूल नीच इस मंत्रके इस कर्मोंमें है ।

मंत्र २- "कर्म करते हुए ही सर्व बलिष्ठी हक्या करनेका उपदेश इस मंत्रमें है । प्रथम मंत्रमें भी हुए निष्काम भावसे कर्म करते हुए ही भी बलिष्ठी हक्या करने करनी चाहिये । वह दोनों मंत्रोंका इच्छा प्राप्त है ।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय मंत्रका वास्तविक कोई विरोध नहीं है, परंतु श्री कृष्णार्जुनकी कहेते हैं कि पश्चिम मंत्र काव्योक्त विधि है और पश्चिम मंत्र ज्ञानके अनधिकारीके विधि है । इस प्रकार दोनोंका परस्पर विरोध है । एतद्विचार्यते इत्ये परस्पर संघाति को देखिये इससे हमें कोई विरोधही नहीं दिखाना देना । "परमेष्ठि सर्वज्ञ है, अत्यपूर्वक मोक्ष करो अनन्त व करो । निष्काम कर्म करते हुए ही सर्व बलिष्ठी हक्या करो यही एक मार्ग है, पश्चिम कोई मार्ग नहीं, वरको यह कर्मका ज्ञेय नहीं लगता । वह दोनों मंत्रोंका प्राप्त है । क्या इसमें परस्पर विरोध है ? वास्तवमें दोनों मंत्रोंका वाक्य मिलकरही पूर्ण मार्गदर्शक लगता है । और इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंमें और देखना चाहिये ।

मंत्र ३- "आत्मभावात् कर्म करनेवालोंका ज्ञान-वात होता है" ऐसा टीका मंत्रमें कहा है । प्राप्त है कि कोई इस प्रकारके आत्मभावात् कर्म व करे

और सब आत्मोजतिकारक पुरुषार्थ करकेही अपना अभ्युदय और निश्रेयस्का साधन करें ।

मन्त्र ४- इस चतुर्थ मन्त्रमें “ मातरि-श्वा अप दधाति ” यह वाक्य है । माताके उदरमें रहनेवाला गर्भस्थ जीव भी कर्मोंको धारण करता है, यह इसका तात्पर्य है । पहिले जन्ममें किये हुए कर्म सस्कार रूपसे गर्भमें भी रहते हैं, यह इसका तात्पर्य है । कर्म छूटते नहीं हैं । निष्काम भावसे ही कर्मके बंधनको तोड़ना चाहिये । यह इस उपनिषद् का आशय है ।

मन्त्र ५- इस मन्त्रमें “ तद् एजति ” वह ब्रह्म सबको गति देता है । ऐसा कहनेसे उसके एक विशेष कर्मका उल्लेख किया है । आत्मा ही सब जड़ जगत्में हलचल करता है । इसका तात्पर्य यह है कि किसीको भी विलकुल कर्महीन रहना असंभव है । भगवद्गोतामें भी इसी हेतुसे कहा है कि “ कोई क्षणमात्र भी कर्म न करता हुआ रह नहीं सकता । ” (भ गी ३।५) क्योंकि आत्माका स्वभाव ही हलचल करना है । इसलिये यह मन्त्र भी कर्मसूचक ही है ।

मन्त्र ८- इस मन्त्रमें आत्माके जो गुणबोधक शब्द हैं वे भी कर्मबोधक ही हैं । “ कवि, मनीषी, परिभू ” ये शब्द विशेष व्यापारके ही बोधक हैं । तथा “ अर्थान् व्यदधात् ” यह वाक्य तो नि सदेह उसके कर्मका ही बोधक है । “ सब अर्थोंको वह ठीक प्रकार करता है । ” यही उसका पुरुषार्थ है अथवा स्वभाव है ।

मन्त्र ९-११- मैं “ विद्या और अविद्या ” अर्थात् आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान को उपासना करनेका उपदेश है । यहाँ कईयोंके मतसे “ विद्या अविद्या ” ये शब्द ज्ञान और कर्म के बोधक हैं । इस दृष्टिसे भी ये मन्त्र ज्ञान और कर्म के समुच्चय का उपदेश कर रहे हैं, नकि ज्ञान और कर्मके विरोध का ।

मन्त्र १२ १४- इन मन्त्रोंमें “ समूति और असमूति ” अर्थात् सघभाव और व्यक्तिभावके कर्तव्योंका उपदेश है । सघभाव और व्यक्तिभावके कर्तव्योंका विरोध नहीं है, प्रत्युत दोनों कर्तव्योंका समुच्चय ही इस उपनिषद् को अभीष्ट है ।

आत्मा	परमात्मा	अवस्था
सुषुप्ति	सुषुप्ति] नैष्कर्म्यं अवस्था, (ज्ञान) निवृत्ति
सुषुप्ति	प्राज्ञ	
सुषुप्ति	तैजस] कर्म अवस्था (कर्म) प्रवृत्ति
जागृति	बैश्वानर	

इनमें दो अवस्थाएँ कर्मकी हैं और दो नैष्कर्म्यकी हैं। चारों आवश्यक होनेके कारण ज्ञान और कर्मका समुच्चय होताही आवश्यक है। यह कोई नहीं कह सकता है कि इनमेंसे किसी अवस्थाकी विद्युत्स आदयश्चता ही नहीं। जो अवस्था नष्ट होगी, उस अवस्थामें व्यक्ति होनेवाली आत्मा शक्ति मुक्त हो रहेगी, उस अवस्थाके बिना यह प्रकट ही नहीं हो सकती। इसलिये जैसा आत्मा मनातन है वैसी ये चारों अवस्थाएँ भी मताता ही हैं। परमात्मा भी तैजस वैश्वानर आदि द्वारा कर्म करता ही है, जो गतिरूपके अनादि प्रवादय दिखाई दे रहा है। परिच्छिन्न जीवकी भी उक्त कारणसे ही चारों अवस्थाएँ हैं। 'चतुर्पाद आत्मा' इसी दृष्टिसे कहने हैं। उसके लो पाँच तोड़ने नहीं हैं। इस कारण कर्म और ज्ञानका समुच्चय ही उत्पत्तिका साधक है।

कह रहा ऐसा प्रश्न करें कि मुक्त अवस्थामें जागृति आदि अवस्थाएँ कहाँ हैं? इस शरीर उन्मेषे निरादन है कि शरीरके होने और न होनेसे मुक्ति और अनुक्ति का कोई संबंध नहीं है। शरीरमें रहते हुए भी आत्मा मुक्तिका अनुभव कर सकता है और शरीरत्याग होनेपर भी आत्मा यथापी अवस्थामें रह सकता है। मुक्तिका हेतु हा और है। "आत्माकी निजशक्तिका अनुभव करना और अपने आपको बंधनसे अलिप्त देखना मुक्ति है।" इसलिये यह शरीरमें कार्य करते हुए भी प्राप्त होती है। और इस कारण चारों अवस्थाओंका होना इसके लिये घातक नही है; प्रत्युत आत्माकी विकसित शक्तिका अनुभव करनेके लिये इसको जागृतिभी आवश्यकता होगी। यही मुख्य हेतु है कि ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता आदिमें ज्ञान और कर्मका समुच्चय कहा है। और किसी एक का स्वीकार नहीं किया। आशा है कि पाठक इस समुच्चयका महत्त्व जानेंगे।

(१२) इस अध्यायमें आये हुए आत्मावाचक शब्दाका विचार ।

पहिले मंत्रमें 'ईष्ट' शब्द है वह "आमी अविपति रात्रा" का अर्थ बताया है । इससे आत्माका सम्बन्ध आत्मा राज्यशासन किसी दूसरे "अप्रीत" पर है यह बात ठीक सीटी है और इसलिये इस अर्थमें राज्यशासन-रूप कम यह आत्मा करता है वह ठीक है । ऐसा देखनेका अर्थ है ऐसा स्वामीका भी अर्थ है । स्वामी होनेपर अर्थ दूसरा नहीं है बरतु करता है ।

द्वितीय मंत्रमें 'नर' शब्द है । वह वाचक मिला "कामेच्छा" इस आत्मनो कहा गया है । जिसका मूल्य इसके पास है उसको कामेच्छा और योग्य शिक्षा कामेच्छा करने परमा इसके आत्मनो ही है । इसलिये वह शब्द भी इसके अर्थका बोधक है ।

तीसरे मंत्रमें 'अना' शब्द अर्थवाचक अर्थ करनेवाले सामान्य बोधेच्छा बोधक है । इस अर्थवाचक यह केवल प्रत्यक्ष करनेका काम करता है उत्पन्नकी उत्पत्ति करना ही इस अर्थवाचक इसका अर्थ है ।

चतुर्थ मंत्रमें 'अष्ट' शब्द है । मन्त्रार्थक अष्ट वास्तुके यह शब्द बताया है, इसलिये इसका अर्थ पतिपत्न्य ही है । मति भी इस अर्थही है । अनार्यक भी वह शब्द है । उत्पत्ति काज और अर्थक इस शब्दमें उत्पन्न है ।

पंचम और छठम मंत्रोंमें "आत्मा" शब्द है । "आत्मा वदत" किन्ना उत्पत्ति अर्थ करनेके अर्थवाचक अष्ट वास्तु इस शब्दमें है । इसलिये 'उत्पत्ति अर्थ करनेवाला' ऐसा इसका अर्थ अर्थ ही अर्थ है । इसलिये आत्मनो का अर्थवाचक "अर्थ" भी एक अर्थक है । अष्टा दोष अष्ट अर्थ प्रत्यक्ष काज से आत्मनो का अर्थक है और अर्थक "अष्ट" वास्तुके अर्थके उत्पत्ति अर्थक है ।

अष्टम मंत्रोंमें "अवि अर्थवाचक परिभू" आदि शब्द आत्मनो किन्ना उत्पत्ति बताया है । इसमें यह विचारनीय है कि वे ही विचारण "अवि" देखनेके भी हैं । देखने-रूपमसे प्रथमो अविचारणः कविर्द्विजानां परि भूपति प्रथम् ॥

“हे आने ! तू (अग्नि-रम्-नम) अगोंमें मुख्य सत्वरूप (प्रथमः कविः) पहिला कवि है और (देवाना मत) इन्द्रियोंका मत, अग्ना देवताओंका मत (परि भूषणि) सुभूषित करता है ।”

शरीरमें आत्मा सब अगोंका मुख्य सत्त्व है और यह इन्द्रियोंका व्यापार चलाता है । तथा जगत्में परमात्मा मुख्य मन्त्ररूप है और मर्यादिकोंको चलाता है ।

इस मन्त्रमें “अग्नि” शब्द आत्मावाचक है और उसका “कवि” यह विशेष है जो ता० य० अ० ४० के आठवें मन्त्रमें शुद्ध आत्माका विशेषण आया है । अग्निका अर्थ वेदमें आत्मा है इसका यह एक प्रमाण है । इस विषयके अधिक प्रमाण यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं है । इससे पूर्व जो अग्निदेवताका विचार किया है, उसमें यह मन्त्र भी देनेसे योग्य है । अस्तु ।

पन्द्रहवें मन्त्रमें “सत्त्व” शब्द आत्माका वाचक है । ‘सत्’ का यमन करता है अर्थात् ‘सत् का नियामक’ आत्मा है । यह नियमनरूप कर्म बता रहा है ।

सालहूने मन्त्रमें उक्त अग्निकाशी “यम” शब्द है । नियामक शामक, ये इसके अर्थ हैं । “ईश” शब्दके अर्थके साथ ही इसका सवध है । “पूषा” शब्द पापन करनेका भाव, “ऋष” शब्द गति और ज्ञानका समुच्चय, “सूर्य” शब्द प्रभव ऐश्वर्यवाचक ‘सु’ धातुसे बननेके कारण यम जगत् की उत्पत्ति और सब जगत्का ऐश्वर्य यथानवाला आत्मा है यह भाव बताता है । इसी मन्त्रमें “प्रजापति” शब्द है उसका भाव प्रजापालनरूप कर्म है । यही भाव प्रथम मन्त्रके ‘इश’ शब्दमें व्यक्त किया है । “पुरुष” शब्द पुरियोंमें रहनेका भाव बता रहा है । पूर्वाक्त चार अवस्थायें चार पुरियोंमें रहनेसेही इसके अनुभवमें आती हैं । इसीलिये पुरुष शब्दसे पूर्वोक्त चार पुरियोंके साथ सवध और वहाँके कर्म व्यक्त होते हैं ।

मंत्र १७ में “क्रतु” शब्द कर्मका ही बोधक है । यह शब्द इसका स्वभाव धर्म बता रहा है । “शतक्रतु” शब्द जो इन्द्रवाचक है वह भी आत्माका

वाचक है । तो वर्ष जोधित रहकर प्रकट करनेका भाव वह वाक्यमें है । इसीप्रकार इस अध्यायके द्वितीय मंत्रमें "यम करते हुए वहां भी वन जोधेही रहका करो" ऐसा उपदेश दिया है । इसका "अतच्छु" कर्मसे निश्चय संभव है ।

अठारहवें मंत्रमें "अग्नि" कर्म वातेमाचक है क्योंकि वह वसुधैव कुटुम्बकम् का वाक्य है ।

इस प्रकार आत्मावाचक तथाही कर्म पुनर्वाचक वाचक हैं वह वहां अत्यंत विचार करनेयोग्य बात है । इस अध्याय जो जो आत्माके पुनर्वाचक वाचक हो रहे हैं उनका विचार करनेसे आत्माके वास्तविक स्वभावका पता लग जायगा । और कर्म करना उसका स्वभाव है वह बात भी इस विचारसे सिद्ध होगी । जब इन अध्याय परस्पर संबंध बना है इसका विचार करना है—

(१३) इस अध्यायके विशेष नामांका

परस्पर संबंध ।

इस अध्यायमें जो विशेष नाम हैं वे आत्माके अतिशय वर्णन कर रहे हैं । यह कर्म विशेषताका वाक्य जीवात्माका वर्णन करता है और यह विशेषतासे परमात्माका वर्णन कर रहे हैं । तथा कई ऐसे हैं कि वे दोनोंका वर्णन समझाते कर रहे हैं । आत्माके आत्माके लक्षण आत्माके लक्षण केका नाम है और वैसे इमें क्या बीच निश्चय है इसका वहां विचार करना है । प्रथमतः वहां इस बातमें अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जो परमात्माके वाचक कर्म "विद वाक्सममे" है वे परिनिष्ठान्त वर्णन मर्माहित मायके साथ जीवात्माके भी वाचक हैं और जो जीवात्माके वाचक कर्म हैं वे अमर्माहित वर्णन के साथ परमात्माके भी वाचक हैं । प्रायः सब कर्म दोनोंके लिये समानतासे प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि दोनोंके पुनर्वाचन बहुत वर्षोंमें समानही है और दोनोंका प्रियपुत्र संबंध सुप्रसिद्धही है । जब ईश, आत्मा" अग्नि" कर्मोंके साथ सब पठक परिचितही है और वे जानते हैं कि वे कर्म दोनोंके लिये प्रयुक्त होते हैं । इसी कारण इन अध्याय वहां विचार करना है और वैसे इस आत्माका उपाधि मार्ग देखना है ।

परमात्मा सदा पूर्णज्ञानी है, परन्तु जीवात्मा किसी कारण मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञानसे युक्त होता है, यह अज्ञानरूप जो अवस्था जीवात्माको किसी कारणविशेषसे प्राप्त होती है, वह कदापि परमात्माको नहीं होती। इस अवस्थाके बोधक जितने शब्द जीवात्माके लिये प्रयुक्त होते हैं, वे सभी परमात्माके लिये प्रयुक्त नहीं होते। यह विशेषता लक्ष्यमें रखनी चाहिये। इन शब्दोंमेंसे एक “आत्म-हन्” शब्द तृतीय मन्त्रमें प्रयुक्त हुआ है। आत्माका घात जो करता है वह आत्महन् होता है। जिसको जन्म और मरण नहीं है ऐसे अज और अमर “आत्माका घात” कैसा होता है? अपनी शक्तिका पता न होनेसेही “आत्मघात” होता है। इस अध पातका कारण अज्ञान है। यह “आत्म हन्” शब्द उन जीवात्माओंका बोध करता है कि, जो स्वकीय शक्तिसे अनाभिज्ञ होनेके कारण अपने आपको निर्वल समझते हुए हीन अवस्थामें गिरते जाते हैं। ये आत्मघातकी लोभ अपनी शारीरिक शक्तिमेंही मस्त रहते हैं, नहीं नहीं अपनी शक्तिकी घमटसे उन्मत्त होकर बड़ेही अनर्थ करनेके लिये सिद्ध होते हैं, और प्रत्येक प्रयत्नसे गिरतेही जाते हैं।

“असु” प्राणको कहते हैं। उन प्राणोंकी जो शक्ति है वह ‘अमृत्य’ नामसे प्रसिद्ध है। यह वस्तुतः आत्माकी शक्ति है, परन्तु यह स्थूल शरीरमें कार्य करती है। इस शक्तिमेंही केवल मस्त रहनेके अथवा इस शक्तिसे स्वार्थी भोग बढानेके कारण इसकी अवनति होती है। इस शक्तिको नष्ट करके जब ये इस अपनी शक्तिका सबकी भलाइके लिये यज्ञ करेंगे, तभी इनका दोष दूर हो जायगा और ये “आत्मघातज्ञी” नहीं कहलायेंगी।

अपनी शारीरिक शक्तिको पूर्वोक्त प्रकारके यज्ञमें जो समर्पण करता है, उसकी योग्यता उच्च होती है वह इस अवस्थामें “नर” कहलाता है। इस अवस्थामें आनेसे यह भोगको तिलाजलि देकर, अपनेही सुखमें कभी “नहीं रमता” इसी लिये न रमनेके कारण ‘न+र’ नाम उसके विषयमें सार्थ होता है। स्वार्थी फलभोगकी इच्छासे किये हुए सकाम कर्म जो आत्मघातके

मार्गमें लड़कों के बाटे से से बन नहीं रहे । कलमोंमें व रस्मोंके कारण वह निष्काम कर्म करता है और उसी कारण कर्मके बचकसे बूझ होता है वह मात्र द्वितीय मंत्रमें पाठक देख सकते हैं । किता निष्काम कर्म करनेवाला संपुष्क नर कहलाता है उसी प्रकार पूर्ण आत्मकर्म परमात्मा भी अवतर्म् नर है क्योंकि उसका सब कर्म पूर्ण निष्काम भावनासेही होता जाता है ।

इस प्रकार भी निष्काम कर्म करता है, वह संपूर्ण सत्कर्म करता हुआ भी कुछ भी न करनेवालेके समान निर्लेप रहता है अत एव कहते हैं कि वह “अपाप-निवृत्त अर्वाच मिप्राप्त है । पापका बन्धन उसको नहीं लग सकता क्योंकि पापके मूल कारणसेही उसने दूर किया है । जो पापके बन्धनसे बूझ है वह “बुद्ध” है इसमें क्या संशय हो सकती है । जो बुद्ध और पवित्र होता है वही “शुद्ध” अर्वाच निर्वाण किंवा कल्याण होता है । अपवित्र बुद्ध और पापी जो होता है वह कदापि आत्मिक बन्धनसे मुक्त नहो हो सकता । जैसे निर्दोषता-कही आत्मिक बन्धनसे छान छान है ।

मेमाँका उपनोद होनेके किने करीर है जिसने कलमोंको इच्छाका साथ किया, उसको सटीरकी आत्मनकताही नहीं जाती वह इसकिने अ-कारण कलपित किया विवेक अन्तर्गतमें जाता है, तथा करीरके ध्यान होनेवाले मगारि बीच उसको बन्ध नहीं देते । स्मृतिके बन्धनसे वह बहिष्कृत नहीं समझा जाता परंतु बन्धन बन्धन अनौचित्य हुआ करता है । वह कर्मके बन्धन रहता हुआ देहधारण नहीं करता प्रत्युत आत्मनकता हीनेपर स्वेच्छासे देह धारण करके बन्धनको छठनेका महान सत्कार्य करता है ।

वह जानता है कि अपना आत्मा मनसे भी वेपभाव है । “मवसतः आधीया” मनके वेपसे अधिक वेपभाव अपने आत्माको भी जानता है वह अपने मनका स्वामी मन्त्री है । वही अपने मनको स्वाधीन रख सकता है क्योंकि वह जानता है कि मैं बन्धन स्वामी हूँ और मन मेरा सेवक है ।

मनके आधीन अर्थात् इन्द्रियों और सब करीर है । इस हेतुसे वह मन स्वाधीन हो जाता सब सब इन्द्रियों और करीर स्वाधीन हो जाता है और इस उपर

वह अपनी शक्ति चलाता है, मानो इस समय सबसे ऊपर उसके आत्माकी शक्ति होती है । वह इस अवस्थामें अपने आत्माको 'परि-भू' अर्थात् सब शारीरिक शक्तियोंके ऊपर प्रभाव चलावेवाला अनुभव करता है ।

अपने आत्माको वह अपने शरीरका "ईश" मानता और अनुभव करता है । मैं इस शरीरका राजा हूँ, मैं इस शरीरमें इन्द्र हूँ और मेरी शक्तिही इस शरीरमें जाकर इन्द्रियोंमें कार्य कर रही है । इस शरीरमें "आत्मा" होनेसे स्वकीय शक्तिके साथ रह सकता हूँ, इसलिये मैं "स्वयं भू" हूँ । मैं अजन्मा हूँ, मेरी उत्पत्ति नहीं हुई, मैं स्वयंही हूँ, इसीलिये "स्वयं-भू" मुझे ज्ञानी कहते हैं । इस रीतिका विचार करके इस अवस्थामें वह अपने आपको स्वकीय शक्तिसे अवस्थित अनुभव करता है और अपनी आत्मशक्तिसे यह शरीर चल रहा है ऐसा देखता है । आत्मा अपनी शक्तिसेही रहता है, परन्तु शरीरके अस्तित्वके लिये आत्माका रस चाहिये, आत्माकी शक्ति चाहिये । इस रीतिके विचारसे वह अपना स्वतन्त्रताका अनुभव प्राप्त करता है और अपने आधारपर शरीरका अस्तित्व है, अतएव वह शरीर परतन्त्र है ऐसा देखता है ।

मैं 'एक' हूँ और मेरे एकके आधारसे शरीरकी अनेक शक्तियाँ हैं । उन अनेक शक्तियोंमें अपने 'एकत्व' का यह अनुभव करने लगता है । अनेक भिन्न पदार्थोंमें एकत्वका अनुभव करनेका अभ्यास इस रीतिसे उसको होता है ।

मैं कभी कपायमान नहीं होता (अन्-एजत्), क्योंकि शरीर बननेके "पूर्व" मैं था, और शरीर नष्ट हो जानेपर भी मैं रहूँगा, और बीचकी अवस्थामें मे शरीरको (अर्शत्) गति दे रहा हूँ । शरीरका अस्तित्व बीचकी अवस्थामें है, परन्तु मेरा अस्तित्व शरीरसे पूर्व और उत्तर कालमें भी एक जैसाही है । इस ज्ञानसे वह निर्भय होता है और अपने गौरवका वह अनुभव करता है । मुझे कोई पाशवी शक्ति नहीं दबा सकती । क्योंकि पाशवी शक्तिमें कई गुणा बलवत्तर जो आत्मशक्ति है वही मैं हूँ, इस प्रकारके मननसे वह आत्मिक बलसे परिपूर्ण होता है ।

यह तीनों नामोंमें कुछ प्रकार अपने आपको सस्य^१ एकत्र समझता है। किसी काममें मैं नहीं या ऐसा कोई बात नहीं है। परंतु शरीर एक काममें आता है और दूसरे काममें बन्ध जाता है। बहुत अपने न भविष्य अपनी आत्मशक्तिमें और मूलाधिक नहीं होता। यह अतींद्रियताका अनुभव इस समय वह करता है इसलिये कहते इस समय^२ कविः कहते हैं। जो साधारण लोग नहीं देख सकते वह यद्यपि अपनी असाधारण दृष्टिसे जगत् को देख सकते हैं। यह असाधारण दृष्टि उसको इस समय होती है। इस दृष्टिके कारणही वह अपने अंदर विलक्षण बलका अनुभव करते लगता है।

यह देखता है कि शरीर मात्र करके पूर्व उसको माताके घरमें रहना पड़ा है। “यातरि-आ” मैं ही हूँ ऐसा वह इस विचारसे समझता है। स्नेहताके यह कारण करनेके समय अवकाश करने प्रसादमें पड़नेके कारण द्वितीय^३ नाम मात्र करनेके समय माताके घरमें जाना आवश्यक है। तथा एक शरीर छोड़कर दूसरा देनेके पूर्व जो धर्मस्वाभाविक अवस्था है उसमें भी पूर्व शरीराला मेरी प्रेमाके निम्न हुए पूर्व संस्काररूपसे रहते हैं। अर्थात् बिना हुआ धर्म वह नहीं होता। धर्म करके ही प्राप्त किया जाता है परंतु संस्कार-रूपसे धर्मबलान्तरित वह रहता है। इसलिये आवश्यक है कि प्रत्यक्ष धर्म हो किसे माय। और कभी ऐसे धर्म न ही कि जो मिलनेवाले हैं। मैं अस्मा ही इस धर्मभूमिमें-वेधने-धर्मकरी हूँ। मैं ही इस यज्ञधर्ममें-रहते बहर्गर्त हूँ। मेरी योग्यता ही कहां के वह हो रहे हैं। इसी लिये मुझे “कतु” कहते हैं। इस रहस्य रहता हुआ मैं ही वर्ष वह करता हूँ इसलिये ही मैं दात कतु हूँ। इस उत्तरीकसरीक बहर्गर्त मात बीचमें ही विधीक प्राप्त होना उचित नहीं। उचितारकी प्राप्त सहजोन्नी संकल्पमें हैं जोकि इस बहर्गर्त विधाय कर रहे हैं। परंतु मैं इसको अवश्य विधिभक्तसे समस्त करूँगा।

मैं “पूपा” हूँ, क्योंकि इस शरीरकी शुद्धि मेरी शक्तिके हो रही है। शरीर की शुद्धि मेरे बिना नहीं हो सकती। मैं ही इस शरीरका और सब अर्थ संपूर्ण द्वितीय नामक करनेवाला होनेसे कहां “यम” हूँ। यम और निवर्तके पावन करने प्राप्त लक्ष्य बनावीधम रीतिसे निवर्तक अवस्था करूँगा। यम-

पूर्व तद्वचनोक्तिं यथायोग्यं शीतये पातनं कृत्वा दृष्ट्वा शुद्धं उल्लस्य चरिते-
न तं गुणयत्वा जगत्प्रकारेण पातनं कृत्वा । कर्त्तव्यं ते विना मेरे गगनीका
परिपालनं कर्त्तुं करिष्यामि । "प्रजा पति" का धर्म पातनं कृत्वा मेरे निवे आश्रय
ही दे । मैं "प्रजापति" ही हूँ । इसलिये शुद्धता ही मैं चाहूँ । तबका योग्य
पातन कृत्वा मेरा योग्य और धर्म कर्त्तव्य दे । "सूर्यं माग्मा जगत्साम्य-
पद्यते ।" (२८ १११५११) गगन पर जगत्सम व्याप्त हो तुम दे । यही क्षीरमे
पाशरादि गगन पर और मग आदि जगत्सम वस्तुओं पर मैं व्याप्त हूँ इसलिये यही मैं
हूँ । सूर्य " हूँ । मे मेरे गगन पर। गगन विना गगन इन्द्रियों में प्रकाश कर रहे हैं,
ये ही मेरे (गगन) गगन सोच रहे हैं । यही "गगन पति" है और पदविशेष
'पति' व्याख्यातों में यही विराजमान हूँ ।

यही मैं उर्ध्वपति हूँ। मे गगन पर पवित्र रहता हूँ और मेरे नामों में यही
सब अभिमत हो जाता है, इसलिये यही सब कल्याण करनेवाला मैं हूँ
' कल्याण-तम ' हूँ ।

इस देहस्वी पुरीष ' ईश्वर ' मैं हूँ । ' पुरीष ' मेरा नाम है । पुरीष में बमोके
वाक्य मुझे ' पुरुष ' कहता है । इस चार पुरीषों में रहता हुआ मैं जाति,
मान, गुण और ज्ञान इस चार अवरणों का अनुभव करता हूँ । यही ओंकार-
५ चार पाद प्रमत्त अ, उ, ए, ओ अर्ध मात्रा चारों में प्रसिद्ध है । इस प्रकार
ओंकार में मेरे चारों अनुभवा का वर्णन कर रहा है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण और
मद कारण ये इन चार पुरुषों का नाम है और उनके चार चक्रे ओंकार में हैं ।
चारों अक्षरों का अनुभव करनेवाला मैं किसी आर्या के होने न होने में नष्ट
नहीं होता, इसलिये मैं अपने आपको ' अहम् ' अर्थात् अहम् समझता हूँ ।
यह मैं मनामन मना है ।

पूरा मन मनामन । जगत्सम दया कर रहे हैं यह आग्नि मैं ही हूँ । यही
आग्नि " अग्नि " है जो इस जगत्सम विना " पुरुष " का अधिष्ठाता
हूँ । यही सब ओंकार जानता हुआ, इस शरीरस्वी रूप में पैठकर
अपने अक्षर उभयता अनुभव करता हूँ आ प्रगति करता हूँ । अस्तु ।

प्रत्येकके आँखके सामने जगत् है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य जगत्का कुछ न कुछ ज्ञान रखता ही है । परन्तु आत्मा वस्तुतः जगत्से भी पास है, और जगत्से भी अधिक प्रत्यक्ष है, परन्तु स्थूल इन्द्रियोमें उसका दर्शन न होनेके कारण उसके विषयक ज्ञान प्राप्त करनेमें बहुत थोड़े लोग प्रयत्न करते हैं । इसी लिये वेदमें इसीका मुख्यतः वर्णन विविध रीतियों और अलंकारोंके द्वारा किया हुआ है । आप किसी दवताक मन्त्र लाजिये, उसमें अशतः अथवा पूर्णतः इसी आत्माका वर्णन दिखाई दगा । परन्तु वैदिक रीतिसेही उसको देखना चाहिये । अन्य बातोंका वर्णन गौण रीतिसे है, और प्रत्येक प्रकरणमें इसीका वर्णन मुख्य है, इसका हेतु यही है ।

आत्मा और जगत् इन दोनोंके ज्ञानका समुच्चय उन्नतिका साधक है, यह चतानेके लिये ही इस अध्यायका “विद्या अविद्या” प्रकरण है । इसलिये अब इसी विषयका विचार करेंगे—

(१५) विद्या और अविद्या

“विद्या और अविद्या” से किसका बोध लेना है इसका अब विचार करना है । प्रायः भाष्यकारोंमें इन शब्दोंके अर्थके विषयमें मतकी एकता नहीं है । देखिये—

‘विद्या’ = (श्री शंकराचार्य) देवता-ज्ञान । (श्री रामानुजाशेष्य नारायण प्रकाशिका) ब्रह्मोपासना, परमात्मोपासना । (श्री माध्व० जयतीर्थ विवरण) ईश्वरका यथार्थ ज्ञान । (श्री स्वा दयानन्द सरस्वती) शब्दार्थसम्बन्ध-विज्ञानमात्र अवैदिक आचरण, आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनित यथार्थ दर्शन ।

‘अविद्या’ (श्री शं०) कर्म । (श्री रा, ना प्र) कर्म । (श्री मा ज वि) अययार्थ ज्ञानही निन्दा । (श्री स्वा द) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मत्यातिरविद्या, इति ज्ञानादि गुणरहित वस्तु कार्यकारणात्मक जड परमेश्वरसे भिन्न ।

ये अर्थ इस समयतक किये गये हैं । इनमें जो जगत्पूज्य आचार्य हैं उनके अर्थोंपर हस्ताक्षेप करनेका हमें अधिकारही नहीं है । तथापि उक्त अर्थोंमेंसे ऋई

क्योंकि वहां “ निष्काम कर्म ” ऐसा अर्थ उचित दीगता है। इसलिये ये अर्थ ठीक नहीं है।

श्री मध्याचार्यजीका अर्थ “ अयमर्थ ज्ञानकी निंदा ” यह विलक्षणही है। यह अविद्या शब्दसे कैसा निकलता है यह भी समझना कठिन है। अन्य अर्थोंका विचार करनेके पूर्व हम अतर्गत प्रमाणोंसे इन शब्दोंका अर्थ करनेका यत्न करते हैं—

इस अध्यायके प्रथम मंत्रके प्रथम पादके साथ “ विद्या अविद्या ” का संबंध है, ऐसा पहिले कहाही है। यह प्रथम कारण यह है।

“ ईशा वास्य इदं सर्वं । ”

“ ईश्वर इस सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है। ” यह इसका भाव है। “ ईश ” शब्दकी सापेक्षतासे यह विश्व “ अनीश ” है ऐसा स्वयंसिद्ध होता है। अनीशके ऊपरही ईशका स्वामित्व है। जडके ऊपरही चेतनका अधिकार है। ईश शब्दके वाचक अन्य शब्द इस अध्यायमें “ आत्मा, मातृ, सत्य, प्रजापति (प्राजापत्य), यम, पुरुष, एक ” आदि हैं। इनको क्रमशः निम्न कोष्टकमें रखा है—

ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
मातृ	जगत्
सत्य	असत्य
यम	यम्या
नियता	नियम्य
पुरुष	प्रकृति
एक	अनेक
प्राजापति	प्रजा
सृष्टा	सृष्टि
(ईशा)	वाम्य (इदं सर्वं)

इसके ईश और ईश " सम्बन्धि विषय कीज देना है, इस बातका ज्ञान ही लक्ष्य है । दोही पराई हैं एक मुक्त और दूसरी प्रकृति । दोनोंका ज्ञान हीना अत्यन्तक है । केवल किसी एकका ज्ञान होनेसे कार्यमान नहीं हो सकता । इसलिये ईश सम्बन्धि ज्ञान विद्या अथवा ज्ञानका प्रयोग करिये—

ईश-विद्या	अ-बीज-विद्या
ब्रह्म-विद्या	अ-ब्रह्म-विद्या
महा-विद्या	अ-महा-विद्या
-विद्या	अ-०-विद्या

दोनों ज्ञानोंसे ज्ञान सम्बन्धी इसलिये " विद्या अविद्या " के दोही रूप अवस्थित रहते हैं । पूर्वोक्त दोनोंको अनुसन्धानसे इन सम्बन्धी अर्थ निम्नलिखित प्रकार होता है—

(१) विद्या = ज्ञानका ज्ञान ।

(२) अविद्या = ज्ञानका विज्ञान ।

ये अर्थ प्रथम संज्ञके अनुसन्धानसे होते हैं । जब ज्ञान प्रमाणीकी अपेक्षा अन्तर्गत प्रमाण अधिक बलवत्तर होता है, इसलिये ये अर्थ अन्त-तत् प्रमाणीके प्राप्त होनेके कारण कर्त्तिक प्रामाणिक हैं । इस विद्या अविद्याके विवरणमें भुक्ति भी क्या कह रही है देखिये—

विद्याया वा अविद्याया यन्मात्रमुपदेक्ष्यम् ।

शारीरं मल्ल माविद्याद्वयः साम्यामी यजुः ॥ (अर्थ ११।८।१३)

" विद्या अविद्या तथा और भी कुछ उपदेश करने योग्य है, वह शक्त, ब्रह्म, ज्ञान और (मल्ल) मल्लकामसे शरीरमें प्रविष्ट हुआ है ।

इस मन्त्रमें कहा ही है कि (विद्या) आत्मज्ञान केका उपदेश करनेयोग्य है यही प्रकृत (अ-विद्या) भुक्तिविज्ञान भी करनेयोग्य है, तथा इसके भी विज्ञान और (अन्त-तत् उपदेश) ज्ञान ज्ञान उपदेश करनेयोग्य है । परन्तु पूर्वोक्त

कि यह तीसरा क्या है ? विद्या अध्यात्मके "सबधका ज्ञान" जो है वह तीसरा उपदेश्य ज्ञान है ।

(१) एक आत्माका ज्ञान, (२) दूसरा जगत्के विज्ञान और (३) तीसरा आत्मा और जगत्के परस्पर सबधका परिज्ञान है । केवल आत्मज्ञान अथवा केवल जगद्विज्ञान ऐसा लाभकारी नहीं हो सकता, जैसा दोनोंका इष्टद्वय ज्ञान हो सकता है । अर्थात् दोनोंके सबधके परिज्ञानका भी बड़ा भारी महत्त्व है । यही बात इस अध्यायमें कही है । देखिये वेदी पूजाक तानों मंत्र—

“ (१) केवल प्रकृतिविद्याकी जो भक्ति करने हैं वे गिरते ही हैं, परन्तु जो केवल आत्मविद्यामें ही रमते हैं वे भी उससे अधिक अधनत होते हैं ।

(२) आत्मज्ञानका और जगद्विज्ञानका फल भिन्न भिन्न है ऐसा हम ध्यानियोंके उपदेशमें सुनते आये हैं ।

(३) जो आत्मज्ञान और जगद्विज्ञानको साथ साथ लाभकारी समझते हैं, वे जगद्विज्ञानसे दु खोंको दूर करके, आत्मज्ञानसे अमृतको प्राप्त करते हैं । ”

जगद्विद्याके ज्ञानसे ऐहिक योगक्षेम ठाक चलता है और आत्मज्ञानसे आत्मिक शक्ति और शांति प्राप्त होती है । यदि केवल जगत्के विज्ञानमें ही लोग मस्त रहेंगे और आत्मज्ञानका ओर जायेंगे ही नहीं, तो इस अवस्थामें वे जगत्के भोग बहुत बढ़ायेंगे, यह बात ठाक है, परन्तु उनके प्रयत्नसे आत्मिक शांति न होनेके कारण लोग इनकी सगतिसे अधिकाधिक दु खोंमें ही गिरते जायेंगे । तथा दूसरे पक्षमें जो लोग केवल आत्मज्ञानमें ही रमेंगे और जगद्विज्ञानका विचार बिल्कुल छोड़ देंगे, तो वे भी अधनत ही होंगे क्योंकि ऐहिक तथा स्थूलदेहविषयक स्वस्थता उनको बिना साष्टिविद्याके प्राप्त नहीं हो सकती । इस प्रकार ये दोनों केवल एक एक विद्याके उपासक होनेके कारण अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।

इसलिये दोनों विचारोंका समुच्चय करनेकी सूचना इस अध्यायमें दी है । दोनों विचारोंसे क्यासेक्य प्रमाणमें आकस्मिक नीतिक विचारों ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं और अस्मिक विचारोंसे अनैतिक आनन्द मित्रता है । इस प्रकार मनुष्य दोनों दृष्टिकोणोंके मार्गपर चलेका अधिकारी होता है ।

अब ४ वां अध्याय उत्पत्तिका है । इसलिये इसमें जो वह सूचना दी गई है वह अत्यंत उपयोगी है । किन्हा-मन्वाकीय विचार करनेवाले इससे अपनी किन्हा मन्वाकी टीका कर सकते हैं । दूसरे कोक भी दोनों विचारोंसे आत्मिकता प्राप्त करके अपना अस्तुत्व और विवेकपूर्ण मार्ग सुपन्न कर सकते हैं । अस्तु-लिक मन्वाकीयके समर्थोंके वरिष्ठ हस्ति हैं । यह है तो नहीं है कि इस समय किन्हाके उत्पत्ति और किन्हाके प्लान नहीं विचार है । और प्रत्येक मन्वाविमानी अपनी अपनी ही तरफ़ खींच रहा है । वरतु इस तीन मन्वाकीय पुनः पुनः विचार करनेसे हम संशयोंकी विमृति होकर योग्य मार्ग दिखाई देता है । आज है कि यह सब मन्वाकीय और भी अधिक विचार करेंगे ।

(१७) समुत्ति और असमुत्ति ।

इसकेस विचार-विचारोंके प्रकरणके समाप्ती यह समुत्ति और असमुत्तिकी प्रकरण अत्यंत विचार करनेयोग्य है । इन दोनोंके अर्थ जो इस समकाल प्राप्तिपर्यन्त भिन्न हैं वे नीचे दिये हैं—

‘समुत्ति’ (जी. ४) वहि कार्यका निरूपणार्थ भवति । (जी. ४ ना ३) समाधि । (जी. ४ ना) भी इतिथि जगत्कर्तृत्व को मानते हैं । (जी. ४ ना ४) यहवादि शब्दों परिलक्ष्य छवि ।

“असमुत्ति” (जी. ४) नृप प्रवृत्ति । (जी. ४ ना ३) समाधि किं अवमृत्ति निमित्त कर्मणि निवृत्ति । (जी. ४ ना) इतिथि जगत्कर्तृत्व संसार करनेका बर्म जो मानते हैं । (जी. ४ ना ४) अवादि अनुपपन्न मन्वाकीय-रूप उत्पत्तिमोक्षमार्ग यह वस्तु ।

इन अर्थोंका विचार करनेके पूर्व एक बात यह कहना आवश्यक है, यह यह है कि श्री० शंकराचार्यजी सभूति असभूतिके अर्थ जो पहिले मन्त्रमें मानते हैं वेही अर्थ तीसरे मन्त्रमें मानते नहीं, परन्तु उनेक मिलजुल उलट अर्थ मानते हैं । उन्होंने लिखा है कि—

सभूति च विनाश चेत्यप्राऽघर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्य ।

प्रकृतिलयफलश्रुत्यानुरोधात् ॥ (ईश० उ० शां भाष्य १४)

“ सभूति च विनाश च ” इस १४ वे मन्त्रमें सभूति और विनाशके पूर्व अकारका लोप हुआ है ऐसा समझना उचित है ॥ अर्थात् ये सभूति शब्दके स्थानपर “ असभूति ” की और असभूतिके स्थानपर “ सभूति ” की कल्पना करनेको कहते हैं ॥ इस कथनसेही यह सिद्ध होता है कि इनके सभूति असभूतिके अर्थ तीनों मन्त्रोंमें ठीक प्रकार नहीं लग सकते । जो अर्थ अपने प्रकरणमेंही सर्वत्र उपयोगी नहीं होते वे अर्थ किस प्रकार माने जा सकते हैं ? और जिन अर्थोंके लिये ‘ अ ’ कारके लोपकी कल्पना करनी पड़ती है वे ठीक भी किस रीतिये हो सकते हैं ? तथा अकारलोपका कल्पना किस व्याकरणके किम नियमसे माना जा सकती है ? यह व्याकरणविरुद्ध कल्पना है ऐसा श्री० जयतीर्थ जी हा कहते हैं—

अकारलोपेन सभूतिरव्याकृतमित्यपूर्व

व्याकरणकौशलम् ॥

(श्री० जयतीर्थ विवरण १४)

“ अकार लापका कल्पना करके सभूतिकाही अर्थ अव्याकृत किंवा असभूति करना यह अपूर्व व्याकरणका कौशल्य है । ” यद्यपि यह भाषा उपहासात्मक है, और इसलिये हमें उसका स्वीकार नहीं करना चाहिये, तथापि मूल आशय असत्य नहीं है । तात्पर्य अकारलोप मानकर अर्थ करना श्रुतिप्रामाण्यकी दृष्टिसे भी उचित नहीं है । श्रुतिको प्रमाण मानते हुए उसके शब्दोंके पूर्व अकारकी कल्पना करनेसे शब्दोंके विपरीतही अर्थ हो सकते हैं । इसलिये ऐसी कल्पना करनी न पड़ेगी ऐसेही अर्थ हमको ढूढने चाहिये । इनका विचार करनेके पूर्व सभूति असभूतिके तीनों मन्त्रोंका शब्दार्थ यहाँ देखिये—

(१) जो अक्षमूति की ब्यासना करते हैं वे अंधेरेमें जाते हैं परंतु उससे भी बहरे अंधेरेमें वे जाते हैं जो कि संभूतिमें ही रहते हैं।

(२) संभूति और असंभूति का फल भिन्न है ऐसा हम जानियोंके बपड़ेयमें सुनते पाये हैं।

(३) संभूति और असंभूति को एक साथ बपयोमी जो समझते हैं वे असंभूतिके द्वारा सृष्ट्युक्तों दूर करके संभूतिके द्वारा असंभूतको प्राप्त करते हैं। (वाच ४ म ९-११ ईश ब. १९ १४)

अब प्रश्नोत्तर विचार करें कि पूर्वोक्त अर्थोंमें से कौनसे अर्थ भिन्न दृष्टि उपबोली हो सकते हैं। हमारी दृष्टिसे इन सप्तोक्त अर्थों में प्रथम अर्थके द्वितीय पादमें है और उसके विचार करनेसे इन सप्तोक्त अर्थ स्वयंही स्पष्ट होना समझाव है और वह अक्षमत्तामें अक्षरकोपकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं। देखिये प्रथम अर्थके द्वितीय पाद—

धार्मिक वा अग्रत्या अग्रतः ॥

यह द्वितीय पाद है। प्रथम पादमें कहा है कि ईश्वर व्यापक है इस सब विषयों में। " (ईशा वाक्य ईश सर्वे) इसके अर्थ परकी व्याख्या इस द्वितीय पादमें की है। जो कुछ जगतीमें वस्तु है सब उसमें ईश्वर व्यापक है। यह हम दोनों पादोक्त अर्थ है। हमारे इस अक्षर अक्षरका अर्थ निबध करनेके लिये अग्रत्या अग्रतः इस दो सप्तोक्त व्याख्यान देकरा आवश्यक है। 'अग्रतः' के अनुवाक्य नाम है "अग्रती"। इसलिये 'अग्रत्या अग्रतः' अर्थमें अनुवाक्य और व्यक्ति की कल्पना है। "अग्रति अग्रिस्मिन्ने वो है उत सब विषयों ईश्वर व्यापक है यह व्याख्यान उपर अर्थार्थिका हुआ। अब और इसका अर्थ करनेके लिये निम्न श्लोक देखिये—

अग्रत्या - अ - अग्रतः

अग्रती अग्रतः

वृद्धि एक पदार्थ

समूह	व्यक्ति
समाष्टि	व्यष्टि
सघ, जाति	एक व्यक्ति
मानवजाति	एक मनुष्य
सभूति	अ-सभूति

“जगत्या जगत्” इन पदोंसे जो गूढ़ भाव व्यक्त होता है वह उक्त कोष्टकमें दिया है । इनके कोशोंमें दिये हुए अर्थ नीचे देता हूँ—

(१) “ स+भू ” = मिलना, एक होना, संघटित होना ।

(२) सभव—मेल, मिलाफ, एकता, सहकार, गहयोग ।

(३) सभूत—मिला हुआ ।

(४) सभूति—समेलन, मिलना, एक होना, सघटना

(५) सभूय—एक होकर, साथ होकर, सहकार्य करके
सघ बनाकर

(६) सभूय समुत्थान—व्यापारी सघ हिस्सेदार होकर
व्यापार करना, मिलकर ऊपर उठनेका
यत्न करना, मिलकर एक होकर
शत्रुपर हमला करना

य अर्थ देखनेमें पाठकों को पता लग जायगा कि “ सभूति ” शब्दमें “सघ” का भाव है । इसका अधिक विचार करनेके लिये “ स+भू ” धातुसे घने हुए शब्दोंका प्रयोगही देखिये—

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वन्ते ।

तत्संभूय समुत्थान व्यवहारपद स्मृतम् ॥

(नारद स्मृति)

“ वैश्य आदि लोग मिलकर (सभूय) सहकारिताके साथ व्यवहार करते हैं, उस व्यवहारको ” सभूय समुत्थान “ कहते हैं । ”

यह "समूह समुत्थान" अर्थात् बहुकारित्व का व्यवहार प्रत्यक्ष समित्व केवल द्वारा अपने अपने कार्य के लिये हुआ करता है । (१) सामूहिक धर्मकारित्व के लिये (२) समित्व अनुसार हमका करने के लिये (३) वरव व्यापार व्यवहार करने के लिये और (४) दूर कारीगरी के संबंध बनाकर अपना कार्य करने के लिये अपने अपने धर्मों में सब करता है । यद्यपि धर्मों के धर्मों के अनुसार प्रत्येक धर्म का समूह-समुत्थान अर्थात् बहुकारी सब भिन्न भिन्न हुआ है लिये हुआ करता है तथापि संबंधी व्यवस्था लगभग एक ही है । तथा—

समूह स्वानि कर्याणि कुर्वन्ति हि मानवैः ।

अथैकधर्मयोगेन कर्तव्याणामप्यस्यता ॥

हेमचन्द्रादयः यत्र विध्य समूहं कुर्वते ॥

कर्मानुक्रमं विधेयं धर्मेणैव यथाशत ॥

(बृहस्पति स्मृति)

" जो समूह मित्रकर सब बनाकर अपने अपने व्यवहार करते हैं उनके धर्मों के अनुसार सामान्य उनको साथ देना चाहिये । दूसरे आदि किसी का सब बनाकर कार्य करेंगे वहां उनके कार्यप्रणाली के अनुसार उनको काम मिलना चाहिये ।

इत्यादि स्वरूपों में " समूह " वास्तु में वही दूर "समूह" सम्बन्ध प्रबल देखने योग्य है । वही व्यवस्था समूह में है । तात्पर्य " समूह " सम्बन्ध संबंधों की व्यवस्था व्यवस्था होती है । अर्थात् " समूह " सम्बन्ध व्यवस्था की व्यवस्था व्यवस्था होती है । संबंधों और व्यवस्था के इस प्रकार के धर्म है यह बात बहुत स्पष्टीकरण के साथ हो सकती है । अब इस धर्म के लक्षण करने के लक्षण मंत्री का साथ देखिये—

(१) जो केवल व्यक्ति स्वार्थीयक बनते होते हैं वे गिरते हैं परंतु जो केवल संयोजकत्व में ही रहते हैं वे भी उनसे अधिक गिरते हैं । (२) व्यक्तिगतत्व और संयोजकत्व फल मित्र मित्र है ऐसा हम जानिये के उपदेशों से सुनते आये हैं । (३) जो व्यक्ति धर्म और संयोजकत्व का धर्म साथ उपयोगी समझते हैं वे व्यक्तिगतत्व से दुःखों को दूर करके धर्ममात्र के धर्म होते हैं । "

व्यक्ति धर्मका फल यह है कि उसके पालनसे व्यक्तिकी सत्ता उत्तम प्रकार-से रहती है । स्नान, ध्यान, भोजन, व्यायाम आदिसे व्यक्तिधर्मका पालन होनेके कारण व्यक्तिकी सत्ता सुरक्षित रह सकती है । परन्तु एक एक व्यक्ति सुरक्षित होनेपर भा सघभावके बिना उनमें चल नहीं घट सकता । सघधर्मसे एक लाभ है और व्यक्तिधर्मसे दूसरा लाभ है । इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे व्यक्तिधर्मके पालनसे प्रत्येक व्यक्तिको उत्तम अवस्थामें रहनेका अवसर दें, और सघधर्मके पालनसे अपना सघशक्ति बढ़ाते हुए जातीयताके साथ अमर बनें । प्रत्येक मनुष्य यद्यपि मरणधर्मी है तथापि वह अपनी जातीय भावसे अमर ही है ।

“सभूति असभूति” के प्रकरणमें यह उपदेश है कि सघभाव और व्यक्तिभावका समविकास ही आवश्यक है, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सघशक्तिके ऐसे नियम बनाने चाहिये कि जिनसे किसी एकका घात न हो और दोनोंका समविकास होकर मयकी यथायोग्य उन्नति हो सके । तत्त्वज्ञानके अध्यायमें सघधर्म और व्यक्तिधर्मका अवश्य विचार होना चाहिये । व्यक्तिका जाति और राष्ट्रके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये, तथा जातिका अथवा राष्ट्रका व्यक्तिके साथ कैसा बर्ताव होना योग्य है इसका योग्य उत्तर इस प्रकरणमें पाठक देख सकेंगे ।

जिस प्रकार ज्ञानक्षेत्रमें आत्माका ज्ञान और जगत्का ज्ञान साथ साथ आवश्यक है, उसी प्रकार कर्म क्षेत्रमें व्यक्तिके और समूहके कर्मोंका और परस्पर सबंधोंका विचार होना चाहिये । वही विचार इस प्रकरणमें किया गया है । प्रथम मंत्रके साथ इन प्रकरणोंका विचार करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है । यह अर्थ अतर्गत प्रमाणोंके विचारसे होनेके कारण अधिक संयुक्तिक है ।

इस अर्थमें भाष्यकारोंके अर्थ आ जाते हैं । परमाणुसघका नाम सृष्टि है और विस्तार हुए अलग अलग विभक्त परमाणु होनेसे वही मूल प्रकृति है । अर्थात् परमाणुओंका सघ “सभूति” शब्दसे भाष्यकारोंने लिया है, और परमाणुओंकी विभक्त स्थिति “असभूति” से ली है । अर्थात् “सघभाव और असघभाव” ये

अब आपसमर्थोके भी लगी है । यदि यही मूल अर्थ किने जायें तो अर्थका मोरब अधिक होना । इसका पाठक भी अधिक विचार करें ।

(१८) द्वैतवाद और अद्वैतवाद

तत्त्वज्ञानका विचार करनेके समय द्वैतवाद और अद्वैतवादका विचार होना आवश्यक ही है, और उपनिषदोंका विचार होकरके समय इस बातको यह नहीं किया जा सकता । उदात्त सांप्रदायिक जगदीश्वर हर रहस्य ही विचारों पाठकोंके विषय है ऐसा हमारा विचार हो रहा है । इस कारण सांप्रदायिकोंमें इसका अर्थ है कि उसपर अब और सोचनेसे कोई फायदा होना नहीं है ।

वास्तविक द्वैत है या अद्वैत है इसका विचार करने समय अनुभवकी ही अंतिम कड़ीकी मानी जाननी तो निम्न प्रकार समझा पड़ता है—

आत्मा और अवस्थाएँ	(१) दुर्गा	अज्ञेयस्थिति] अद्वैत अनुभव	ॐ
	(२) ब्रह्म	निर्विकल्प समाधि		
	(३) काय	समिपानुभवाधि] द्वैत अनुभव	ॐ
	(४) प्राप्ति	— उपासनाकी अवस्था		

आत्मा और अवस्थाएँ हैं । हमें ही अवस्थाओंमें द्वैत अनुभव है और ब्रह्म ही अवस्थाओंमें अद्वैत अनुभव है । प्रत्येक अनुभवमें इन चारों अवस्थाओंका अनुभव है । यदि आत्मा ही चारों अवस्थाएँ हैं तो द्वैत भी है और अद्वैत भी है । पाठकोंसे कहा मिलेगा कि वे सांप्रदायिक जगदीश्वरों में न जायें । उपनिषदोंमें और वेदों में भी वे आत्मिकके उपासक नहीं हैं । वेद कहता है कि आत्माकी अनुभूति अधिक उन्नत चार अवस्थाओं द्वारा अनुभवमें आती है । यही “ब्रह्मवाद् आत्मा” है । वेदोंमें आत्मिक चारों परीक्षा वर्ण्य कह स्थायी है । दो चारोंमें हम द्वैत अनुभव कर रहे हैं और अन्त में चारोंमें अद्वैत अनुभव के रहे हैं । प्राप्ति और स्वप्नके अनुभवमें विविध द्वैत

ज्ञान है । 'मैं' और 'मैं-नहीं' ये दो पदार्थ इन दो अवस्थाओंमें हैं । 'मैं, तू, वह' इत्यादिका अनुभव इनमें आता है ।

एकत्वका अनुभव

सृष्टि और तुर्याका अनुभव द्वैतका निश्चयसे नहीं हैं, परन्तु "एकत्व" का है । निश्चित एकत्वका है इस विषयमें किसीको शका हो तो वह "अ-द्वैत" का अनुभव मान सकते हैं । उस अवस्थामें "द्वैत" का अनुभव निश्चयसे नहीं होता है, परन्तु "एक" का अनुभव होता है या नहीं यह प्रत्येक मानव नहीं कह सकते । जो कुछ अनुभव है वह शब्दोंमें प्रकट नहीं किया जा सकता, शब्दोंकी गति वहां नहीं है । वहां ऐसा अनुभव है कि जिसका वर्णन द्वैतवाचक शब्द नहीं कर सकते ।

वास्तविक द्वैत और अद्वैतका भाव यह है । जिस समय मतमतांतर चल पड़ते हैं उस समय बड़े झगड़े खड़े होते हैं । उनसे हमें कोई वास्ता नहीं है । आत्मा-की चार अवस्थायें होनेके कारण, द्वैत और अद्वैतका अनुभव होनेके हेतुसे, सर्वत्र द्वैतप्रतिपादक भी मन्त्रोंके साथ साथ अद्वैत प्रतिपादक भी मन्त्र हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामें देखिये कई श्लोक शुद्ध द्वैतका प्रतिपादन कर रहे हैं, तो कई ऐसे हैं कि जो शुद्ध अद्वैत विचार ही बोल रहे हैं । यही बात उपनिषदोंमें है । वेद मन्त्रोंमें भी यही प्रकार है । ऐसा होनेका हेतु ऊपर दियाही है । बहुत लोग इस मूल कारणको ध्यानमें नहीं धरते और कहते हैं कि, प्रथममें प्रक्षेप है, दूसरे कई समझते हैं कि एक प्रकारके मन्त्र मुख्य हैं और दूसरे गौण हैं । कई लोग अन्य रीतिसे खेचातानी करके किसी न किसी प्रकार निर्वाह करनेकी चेष्टा करते हैं और स्वमतकी स्थापना करते हैं । परन्तु ऐसा करनेसे प्रथका सच्चा आशय-यानमें नहीं आ सकता ।

उक्त कारणसे ही अद्वैती लोग द्वैत प्रतिपादक मन्त्रोंको खींचते हैं और द्वैती लोग अद्वैत-प्रतिपादक मन्त्रोंको खींचते रहते हैं । परन्तु उक्त रीतिसे यदि ये लोग वास्तविक बातको समझेंगे, तो खेचातानीका कारण ही नहीं रहेगा ।



ॐ

वाजसनेयि-माध्यदिन-शुक्ल ।

यजुर्वेद-संहिता-पाठः ।

अथ अत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्स्यां जगत् ।
 तेन त्यक्तेन ब्रह्मीया मा शृणुः कस्य सिद्धनम् ॥ १ ॥
 कूर्बन्नेवेह कर्माणि विधीविषेष्णुतं समाः ।
 एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरैः ॥ २ ॥
 असुर्या नाम ते लोकः सन्धेः समसावृताः ।
 तस्ते प्रेत्यार्षि गच्छन्ति ये के चास्मदनो जनाः ॥ ३ ॥
 वर्नेन्द्रेण मनसो जर्षावो नैर्नरेणऽजामुवन्पूर्वमर्षत् ।
 तद्वाचतोऽन्धानत्वेति लिप्सत्तस्मिन्नुपो मातरिषां दधाति ॥ ४ ॥
 तद्वज्रति तद्वैज्रति तद्वरे तद्वन्तिके ।
 तद्वन्तरस्य सर्वस्य तद्व सर्वस्यास्य वाद्यतः ॥ ५ ॥
 पस्तु सर्वाणि भूतान्वात्मयानुपश्यति ।
 सर्वभूतेषु चात्मानं शतौ न वि चिन्तित्सति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकऽ एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरथ शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूरीथातथ्यतोऽर्थान्वृ-

दधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।

ततो भूयऽइव ते तमो यऽ उ सम्भूत्यां रताः ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादुन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

अन्ध तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूयऽ इव ते तमो यऽ उ विद्यायां रताः ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्यायां अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभयं सह ।

आविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

वायुरानिलममृतमथेद भस्मान्तं शरीरम् ।

ओ३म् कर्तो स्मर । क्लिवे स्मर । कृतं स्मर ॥ १५ ॥

अप्रे नभं सुपयो रायेऽग्रस्मान्विधानि देव वपुनानि विद्वान् ।
 अयोधुस्मस्तु हुराणमेनो मूर्ध्निष्ठां ये नमऽर्चकं विधेम ॥१६॥
 'द्विरभ्ययेन पात्रेभ्य सत्यस्यापिहितं मुक्तम् ।
 योऽसावाहित्ये पुण्यः सोऽसावहम् ।
 आश्चर्यं च जगत् ॥ १७ ॥

॥ इति आचार्यसिद्धोऽध्यायः ॥

ॐ

शुक्ल-यजुर्वेदीय

काण्व-संहिता-पाठः ।



अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्यमिदं सर्वं यात्किञ्च जगत्यां जगत् ।
 तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥
 कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छुतं समाः ।
 एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरैः ॥२॥
 असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
 तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥
 अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
 तद्धारतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपा मातरिश्वा दधाति ॥४॥
 तदेजति तन्नैजति तदूरे तद्वन्तिके ।
 तदुन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥
 यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
 सर्गभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन्सर्वोपि मृतान्यात्मैश्वर्याद्विज्ञानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगतान्कुरुर्मन्त्रायमन्त्रमस्नायिरश्च शुद्धमपापविद्वम् ।

हविर्भिनीषी परिभूः स्वयम्भूर्यावातम्यतोऽर्षान् भ्यदमाञ्छा-
श्चतीम्यः समाम्यः ॥ ८ ॥

अन्व तमः प्र विंशन्ति येऽविधामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य तं विद्यायां रुवाः ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विधयाऽन्वदाहुरविधया ।

इति शुभ्रम् भीराजो ये नस्तद्विषयक्षिरे ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोमर्षं स ह ।

अविधया मृत्युं तीर्त्वा विधयाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्व तमः प्रविंशन्ति यऽसंस्मृतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य तं सम्भूत्या रुवाः ॥१२॥

अन्यदेवाहुः संस्मवादन्यदाहुरसंस्मवात् ।

इति शुभ्रम् भीराजो ये नस्तद्विषयक्षिरे ॥१३॥

संस्मृतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोमर्षं स ह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुरम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्नेक ऋषे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्तसमूह तेजो

यत्ते रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि ।

योऽसासौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ॐ३ क्रतो स्मरं कृतं स्मरं क्रतो स्मरं कृतं स्मरं ॥१७॥

अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मर्जुहुराणमेनो भूर्यिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

॥ इति चत्वारिंशोऽध्याय ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

५ ओम्	हे सर्व-रक्षक !
शान्तिः	(वैयक्तिक) शान्ति,
शान्तिः	(सामाजिक) शान्ति,
शान्तिः	(सासारिक) शान्ति,
	(सर्वत्र स्थिर हो ।)

(५) शान्ति = शांतता, समता, विषमताका अभाव । “ (वैयक्तिक) शांति = व्यक्तिके शरीरमें समता, सप्तधातुकी समानता, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सर्वमें वैषम्यका अभाव, उत्तम निर्दोषता, उत्तम आरोग्य इत्यादि । “ (सामाजिक) शांति = ” समाजमें सब वर्णों तथा सब जातियोंमें समता और अविरोध । “ (सांसारिक) शांति = ” भूमि, जल, अग्नि, वायु, भूकम्प आदियोंमें निर्मयता, अथवा इनमें हानेवाली आपत्तियोंसे बचाव करनेकी यथा-संभव उपाययोजना करके शान्ति का स्थापना करना ।

भावार्थ— साधक जीव जगत्में समबुद्धिसे रहे, पूर्णका ध्यान करता हुआ वह स्वयं पूर्णत्वको प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करे । इसमें वैयक्तिक शांतिका अभिप्राय यह है कि अपने ही शरीरमें, सब आत्मिक और प्राकृतिक शक्तियोंके बीचमें स्वस्थता और समताको साधना, यही प्रथम पुरुषार्थ है । जाति, समाज, राष्ट्र अथवा मानव-समाज, इनमें समता और अविरोध स्थापना यह दूसरा पुरुषार्थ है, और सारे जगत्में शांतता उत्पन्न करनेके लिए कर्तव्यकर्म करना यह तीसरा पुरुषार्थ है प्रत्येकको अन्तिम सिद्धि द्वारा क्रमशः जीवनमुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति मिलती है ।



ईशा उपनिषद्

आत्म-ज्ञान

(१) आत्मोद्यतिश्च मार्गः ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्स्य जगत् ।

१ ईशा वास्य इदं सर्वं ईशासे ब्रह्मदेवाऽऽदृष्टस्य है ।
२ यत् किञ्च जगत्स्य जगत् जो कुछ जगत्सीमें जगत् है ।

(१) ईशा=स्वामी भूम्भु ईश्वर, विद्यामन्त्र ज्ञात्वा परमात्मा ब्रह्म पर ब्रह्म । 'वास्य' = (वास्) = रहना होना प्रवीत होना परिभाल करना ओढ़ना आच्छादय करना निवार करना प्रीति करना जैसा स्वीकारना कर्षण करना । 'ईशा वास्यं' = स्वामीधि ब्रह्मनेत्रोन्म-स्वामी होकर ब्रह्मने ज्ञात्वा । ईश्वरसे जोका हुआ कथना आच्छादित हुआ हुआ । ऐश्वर्य द्वारा प्रीतिसे विद्या हुआ । इसी वास्यं इदं जगत् । अर्थात् विद्यामन्त्रके द्वाराही ब्रह्मनेत्रोन्म ब्रह्म जगत् है । परमेश्वर गुणमन्त्र से हुएके ब्रह्मेश्वर यह कथन नहीं है ।

(२) जगत् = विद्यनेवाला, कथने वाक्ता चैवञ्च अस्मिन् कथन, मनुष्य । जगती = ब्रह्मदेवासी यति विद्या, शान्त-वाति । जगत्स्य जगत् = जिस परिवर्तनीय जगत् समुदायमें ब्रह्मदेवाका एक पदार्थ । अनेकमें एक; एकमें अनेक जगत्सीमें अनेक; मानवजातिमें एक मनुष्य, जातिमें एक ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्वच्छनम् ॥ १ ॥

- | | |
|---------------------------|------------------------------|
| ३ तन त्यक्तेन भुञ्जीथाः । | उसका दानसे उपभोग कर । |
| ४ मा गृधः । | लोभ मत कर । |
| ५ कस्य स्वित् धनम् ? | किस एक व्यक्तिका भला धन है ? |

३ त्यक्त = त्याग हुआ, दान किया हुआ, धर्मके लिए समर्पित किया हुआ । भुञ्जीथा = (भुज्) = भोगना, खाना, उपभोग करना, स्वयं अपने लिए उपयोग करना, अपने अधिकारमें रखना, शासन करना, अपनासा कर लेना । त्यक्तेन भुञ्जीथाः = दान करके भोग कर, दान देकर अवशिष्ट रहे हुएका उपभोग कर; जगद् उपकारके लिए समर्पण करना ही अपना वास्तविक उपभोग है ऐसा समझा ।

(४) मा गृध = अपने अधिकारमें जो जगत्का भाग आया हुआ हो, उसका भी लोभ मत कर, उसका उपभोग करना हो तो दान करके कर । दूसरेके पदार्थका लोभ तो कभी भी मत कर ।

(५) स्वित् = शका, आश्चर्य, ठीक है क्या ? भला ? कस्य स्वित् धनम् ? = भला धन किस एक व्यक्तिका है ? धन मेरे अकेलेका है ऐसा माननेवाले लोग मृत्युके समय धन छोड़कर चले जाते हैं; अत धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है यह बिलकुल सत्य है । तो यह किसका है ? इसका उत्तर कस्य धन = (क) प्रजापतिका धन है । प्रजापालन करनेवालेका धन है, अथवा सर्व जनताका धन है, क्योंकि व्यक्तिके मरनेपर भी समाज अमर रहता है, अत सब धन सब जनताका है और जनताका है इसी लिए व्यक्ति उसे जनताके अभ्युदयके लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुएमेंही सत्पुत्र होकर उसका भोग करे । सब धन सम्पूर्ण जनताका है । यह किसी भी एक व्यक्तिका नहीं है, अतएव व्यक्तिकी धनका लोभ छोड़ देना चाहिए और सबके उपकारार्थ उसका व्यय करके जो कुछ शेष बचे, उससे अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए उपभोग करना चाहिये ।

इहमेवेह कर्माणि विधीयिष्यन्तः समाः ।

६ इह कर्माणि कुर्वन् एव, । यदा प्रशस्तं कर्म कुरुता इमा ई
७ धृतं समाः जिह्मीषिषत् । सा यत् अनेकी इच्छा करे ।

(६) कार्य = ब्रह्मसाम्य कार्य वेद पुरुषार्थ उत्पत्ति-व्यति-दानप्रत्यक्ष-
कार्य समतादी उत्पत्ति कार्य व्योम्नसप्रकारक उत्पत्ति कार्य । अकार्य =
अकार्य हो प्रत्यक्ष है- (१) जो किने हुए जीव फिर हुए प्रत्यक्ष है और
वैयर्थ्य व्यतिप्रत्यक्ष किनेही प्रत्यक्ष हो प्रत्यक्ष है वे । (२) निष्प्रत्यक्ष कार्य
विकार्य = विरह कार्य व्योम्नसप्रकार्य प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष है ।
ये प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष है । इस प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष है । इस = प्रत्यक्ष
प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ।

(७) श्राव्य समाप्त २० सी बच इच्छावाचि कल्प्य होये। बाह्ये सी बाल बर्णाद बहि २ बर्णयो आनुते इच्छावाचि बध्य होयी है, ऐसा मान के से तबत ही काम बनिधी इच्छा प्रत्यक्षपूर्वक करे, इस प्रकार १२ कामकी व्यवस्था आनु होती है। अत एव ज्योतिष्य बभ्रुवर्णसे कही मात्र सीधय है। इसका पूर्व अनुपम ग्राम करनेकी प्रत्यक्षपूर्वक इच्छा एककी बाहिर, ऐसा कपरीस बहा कर है। "मैठीय काम्य" चाकिसेके धाव संभात और बनिधी स्थितिमें रहनेवालीको बाल ने तीन कर्म बह्यो सुचन है। ६४ काम्य बह्यारा बभ्रुवर्ण मेक तब बभ्रुव होयी है। तब बह्यर्णवा यही ज्येव है। ६४ बह्य एते ओकसंगइच्छाक होयेते ऐसे ओकसंगइ चारक प्रत्यक्ष कर्मक किए अपने बाह्ये बचका व्यव करना बाह्ये किए बभ्रुव है। (१) बह्यर्णवाको काम्यवान (२) बर्णोच बाह्य (३) बभ्रुवर्णोच काम्य, (४) मूत्रमयजपर बवा और (५) मूत्रि बह्य आदि वैध चाकिनीच बाह्यपूर्वक प्रयोग, ये चार मेक (६४) कर्म ओक प्रत्यक्षके किये करव आनयक है।

एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

८ एव त्वयि,	यह (ज्ञान) तेरेमें (हो),
९ इतः अन्यथा न अस्ति ।	इससे दूसरा (मार्ग) नहीं ।
१० कर्म नरे न लिप्यते ।	कर्म नरको दूषित नहीं करते ।

(८) एव त्वयि = यहातक जो सात उपदेश कहे, वे तुझ जैसे साधकमें स्थिर हों ।

(९) इतः अन्यथा नास्ति = उच्चातिके लिये इसके सिवाय भिन्न मार्ग नहीं है ।

(१०) नर = (न रमते) जो भोगोंमें रमता नहीं वह । कर्म नरे न लिप्यते = जो भोगोंमें फस कर अपने कर्मोंसे च्युत नहीं होता, ऐसे मनुष्यको कर्मोंसे होनेवाला दोष नहीं लगता ।

[सूचना - यहातक जो आत्मोन्नतिका मार्ग कहा है वह यह है -

“(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व मानते हुए, वह हमारे कर्मोंको देखता है ऐसा मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके सुखमें व्यक्तिका सुख है ऐसा मानना, (३) दान करके बचे हुका स्वतः भोग करना । (४) लोभ न करना, (५) सब धन सुझा अकेलेका नहीं है पर वह सब प्रजाका है ऐसा मानना, (६) इसी एक आत्मोन्नतिके मार्गपर दृढ विश्वास रखना, (७) उद्धारका इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना, (१०) सत्कर्म कभी बन्धन नहीं करते ऐसा मानना” । इस मार्गपर चलकर अपने जीवनको सार्थक करनेवाले लोग “समर्थ” बनकर जगत्में आदर्शभूत बनते हैं और बंधनसे मुक्त होकर अन्तमें उस स्थानको जाते हैं, जहाँ कि आत्मोन्नति करनेवाले लोग जाते हैं । परन्तु इस मार्गको न स्वीकारते हुए जो लोग आत्मघातके मार्गसे जाते हैं, उनकी क्या दशा होती है, इसको तीसरे मन्त्रमें देखिए ।]

(१) आत्मघातका मार्ग ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा हृताः ।

११ असुर्या नाम ते लोकाः । बलके क्षिप्य प्रसिद्ध ऐसे ये लोग
अन्धेन तमसा आहृताः । ग्राह अंधकारसे व्याप्त हैं ।

(११) असुर्य - असुर्य = 'असुर' अर्थात् अंध । उस प्राणकी
शक्तियों को (रा-वेला) क्या है वह असुर्य है । वह असुर अर्थात् वेदमें
आत्मा परमात्मा ईश्वर, का अन्धकार है । अन्ध अन्धों को प्राणशक्ति है
उसका नाम असुर्य है । प्राणियोंको प्राणशक्ति देवोंको देवकी प्राणशक्ति
वह इत्यर्थ अर्थ है । वह शक्ति किसी देवमें किसीही राक्षसमें और किसी उग्र
में किसीही दुर्बलमें रहती है । प्रत्येक क्षणमें भी वह है वह इसी शक्तिसे
कारण है । क्षणमें प्राणशक्तिके नीचे का इन्द्रियशक्ति और शरीरशक्ति कार्य
कर रही है वह इसी असुर्य शक्तिके कारण है । इससे स्पष्ट हुआ कि 'असुर्य'
अर्थात् 'इन्द्रियों और शरीरों में कार्य करनेवाले वह । इनसे जो भिन्न है वे
आत्मिक दृष्टि वह है, और वे प्राणसे भी अलग हैं वे मानसिक शैक्षिक और
अध्यात्मिक शक्तियों द्वारा प्रकट होते हैं । बुद्धि और मनो को वैयर्थ सामर्थ्य
प्रकट हुआ है वह इस असुर्य नामक शक्तिसे भिन्न है । असुर्या नाम
ते लोकाः = केवल जो शारीरिक बलके क्षिप्य प्रसिद्ध हैं ऐसे जो
लोका हैं वे शारीरिक बल सिद्धान्त क्या प्रसार करना मारपीट करना
आदि व्यवहारके लिए प्रसिद्ध हैं । तथा अन्ध अन्ध मानवीय बल आदर्श
आदि वास्तविक सम्पत्तियों की अभाव में नहीं है । यद्यपि इनके शारीरिक बल
आत्मशैक्षी बल हुए हैं तथापि वे अपने अज्ञानके कारण अन्धमार्गमें चले
होते हैं, अतएव अन्धेन तमसा आहृता = वे अन्ध अज्ञानमय
कारणसे व्याप्त हुए हुए हैं = ऐसा समझा जाता है । 'ये के व आत्म
हन्ता अन्ध ते ताव प्रेक्ष्य ज्ञानि (अपि) अचक्षुः । = जो कोई

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनः ॥३॥

ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति | वे मृत्युके घाद उनमें जाते हैं
ये के च आत्महनः जनाः | जो कोई आत्मघाती जन हैं ।

आत्मघाती जन हैं, वे वैसे मूर्ख लोकोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं; अर्थात् उनकी जीतेजी भी इन लोकोंमें गणना होती है । 'जन' = जन अर्थात् केवल प्रजनन करके किसी भी सतति उत्पन्न करनेमें ही जो समर्थ हैं, जिनसे इसी अपेक्षा अन्य कोई प्रशंसनीय मानवीय कर्तव्य होना समभव नहीं है । ये जन आत्मोन्नतिको पुरुषार्थ करनेमें अवमय हैं और इनके कष्ट होनेसे इनसे यदि कोई कार्य ही भी गया, तो वह आत्माकी अवनसिका ही होता है, इसलिए इन्हें यहां आत्मघातकी कहा गया है । पूर्वके दो मन्त्रोंमें जो मार्ग बताया है, उस आत्मोन्नतिके मार्ग का अवलम्बन न करते हुए, उनके विरुद्ध आत्मघाती मार्गोंकाही ये अवलम्बन करते हैं ।

आत्मघातका मार्ग यह है—

“(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व न मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके आधारसे व्यक्ति स्थित है ऐसा न मानकर व्यक्तिका यथा समभव स्वार्थ बढ़ाते हुए, उससे सघके नाशके लिये कुकर्मोंको करते रहना, (३) स्वार्थपूर्वक भोग करना, (४) लोभ करना, (५) सब धन केवल मेराही है ऐसा मानना, (६) सदा कुकर्म करना, (७) जिनसे आयु क्षीण हो ऐसे हीन कर्म करते जाना, (८) एक सन्मार्गपर मनको स्थिर न रखना, (९) विपरीत मार्गोंपर विश्वास रखना, (१०) सत्कर्म भी बधक हैं ऐसा मानना । ”

ये दश प्रकारके मार्ग आत्मघातके हैं । इन मार्गोंसे जो जाता है वह किस प्रकारसे अधोगतिको प्राप्त करता है यह बात इस मन्त्रने दिखलाई है ।

(१) आत्म-तत्त्वका वर्णन ।

अनेकवेक मनसो अभीया

१९ एक, अन्-एकत्,
पूर्व, अद्यत्,
मनसः अभीया ।

वह एक अन्वसत्तादि
सबसे पुण्यतम स्फूर्ति देनेवाला
मनकी अपेक्षा देगावाह है ।

[प्रथम मंत्रमें ईक सर्वत्र कथता है, ऐसा कहा है वस्तु यह एक है अथवा अनेक ? और कथना क्या सामर्थ्य है ? इस विषयमें कुछ नहीं कहा है । कथि वहाँ 'ईका' ऐसा एकवचनका प्रयोग है, तथापि वह संदेह हो सकता है कि कथयित वह वातिवाक्य एकवचन हो; अतः उपरांत कंठाक्षी पद करनेके लिए इस मंत्रमें वह एक ही है, ऐसा बहुर बचके पुनोक्त वर्णन किया है । ये तुम इस प्रकार हैं—] एक = वह पूर्वप्रथम एक है अनेकत् = वह द्विजता नहीं जगति वह स्थिर है । वह सर्वत्र व्याप्त होनेसे इतर तरफ नहीं जाता वह संकल्प नहीं है । पूर्व = वह कथने पूर्वप्रथम है । अन्व निर्माणके भी पूर्व वह वा । अद्यत् = (अद्य = अति) अत्यन्त गति देनेवाला है स्फूर्ति देनेवाला है, वह अत्यन्त प्रेरक और विरोधक है । मनसः अभीया = वह मनकी अपेक्षा देगावाह है । अतः बुद्धि, मन प्राण इन्द्रियाँ और शरीर इस कथने देखें तो प्रथमकी अपेक्षा बुद्धिमें गति कम और तीक्ष्णमें कथने भी कम इस प्रकारसे गति कम होती जाती है । इसलिये वह कथने अत्यन्त हो तीव्र अभीया करने होनेसे कथने भी अधिक देगावाह है । मन संकल्प है, वह मन विचका मिथ्या करता है वहाँ वह जगत् पूर्वप्रथम व्याप्त होनेसे कथने पूर्व वह सर्वत्र कहा हुआ है । [मगधे वह अत्यन्त देगावाह होनेसे मन कथने प्राप्त नहीं कर सकता वह वात स्थगिही है, परन्तु हृत्त बोध (इन्द्रियाँ) कथने प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ? इस कथना के अन्त इस प्रकार है—]

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्

१३ देवाः एनत् न आप्नुवन्	इन्द्रिया इसे प्राप्त नहीं करती ।
१४ तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति ।	वह स्थिर होता हुआ दौड़ते हुए दूसरोंके आगे जाता है ।

(१३) देवा एनत् न आप्नुवन् = देवोंके तीन क्षेत्र हैं । 'व्याक्तिगत देव' व्याक्तिमें आत्मा, कान आदि इन्द्रिया देव हैं । ये इन्द्रियां बहिर्मुख होनेसे इन्हें अन्तरात्माका दर्शन होता नहीं । 'मानव-समाजस्थ देव' = ज्ञानी (शब्द शास्त्री), शूर, व्यापारी, कारीगर, ये मनुष्य-समाजमें देव हैं । ये व्यवहारमें जुटे रहते हैं अतः इन्हें भी परमात्म-साक्षात्कार नहीं होता । "जगत्तमं स्थित देव" = अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि देव जगत्तम हैं । वे भी ब्रह्म साक्षात्कारके अधिकारी नहीं हैं । इस प्रकार ये तीनों क्षेत्रोंके देव अन्तरात्माको पा नहीं सकते । व्यवहारमें न फसते हुए जो बधनसे छूटता है, व निःसंग द्वातेमें रहता हुआ उस परमात्माके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है वही सन्त उसे प्राप्त कर सकता है ।

(१४) " तिष्ठत् " = वह ब्रह्म स्थिर है । ऐसा होते हुए भी वह " धावत अन्यान् अत्येति " = दौड़ते हुए दूसरे पदार्थोंके भी पहिले गया हुआ होता है । व्यक्तिम इन्द्रियां दौड़ रही हैं, समाजमें मनुष्य भागदौड़ मचा रहे ह जगत्तम सूर्य, चन्द्राद नक्षत्र भी दौड़ रहे हैं । परन्तु ये सब जहाँ दौड़कर जाते ह, वहाँ पहिलेसेही ब्रह्म पहुँचा हुआ होता है । चाहे कोई कितना भी तज दौड़ता हो पर वह इस आत्मासे पूर्व पहाचनेके स्थानपर पहुँच नहीं सकता । [दूसरे मन्त्रम " प्रश्नस्त कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीनेकी प्रयत्न-पूर्वक इच्छा करनी चाहिए " ऐसा कहा है । परन्तु इसपर ऐसी शका उठती है

तस्मिन् मातरिषा दधाति ॥ ४ ॥

१५-तस्मिन् मातरि-श्वा वप दधाति ।	उसके माधारसे माताके (गर्भमें) रहनवाला(जीव)कर्मोंका धारण करता है ।
-------------------------------------	---

कि जन्तुके जो कर्म होंगे वक्का कुछ सत्तु हो जानेसे उस व्यक्तिमें नहीं मिलेगा और ऐसी दशामें क्या वे सत्तु कर्म स्वर्ग जाएँगे । इसका उत्तर “ किए गए कर्म स्वर्ग नहीं जाते ” ऐसा अधिप संश्रमायमें दिया हुआ है, उसे जान नहीं देखिए—]

(१५) मातरि श्वा = माताके शरीरमें रहनेवाला जीव जिसका पूर्वा शरीर हूट गया है और जिसका दूसरा वेह बन रहा है, वह माताके गर्भमें जाया हुआ जीव तस्मिन् वपः दधाति = उस श्वाके माधारसे अपने कर्म धारण करता है । जिस प्रथम शरीरसे कर्म लिये वे वह पदमि गड़ हो गया और आगेका शरीर नहीं भी मिले, उसे भी इसके पूर्व हूट जानेके पुरे कर्म गड़ नहीं होते । परमेश्वरके निष्पन्नमें फिर निम्नलिखित वे कर्म उत्पन्न करने के माताके पास रहते हुए जीवके अपने पुरे भोग देते ही हैं । [अथवा ब्रह्मस्यार्थाय कर्मोणि संमं लक्ष्म्या करोति यः । लिप्यते अ स पापेन० । (म पी ५१) श्वाके समर्पण करते हुए मातृजिह्वित कर्म भी करता है, वह पापमें मुक्त हो जाता है । इस जीवके नव्यदुष्टार भी इस संश्रमायका धर्म ही लक्ष्य है । तस्मिन् वपः मातरिषा दधाति = उस श्वाको कर्म समर्पण करते हुए जो जीव कर्म करता है (वह पापसे बह नहीं होता) । अपने संश्रमों में वह कमसे जिस होता नहीं = ऐसा कहा है वह जिस प्रकृत्यो है वह इस संश्रमामें दिखाया है ऐसा कहा है सम्भव जानना चाहिए ।] इस संश्रमों में वह अनुष्ठान आभासा प्यन करना चाहिए । इस संश्रमाके पुनर्जन्मकी कल्पना कतामयता सिद्धार्थ पर्य है ।)

मंदरानि तक्षिणानि मनुजैः मन्त्रिभिर्युक्तैः ।

मन्दनस्यैव मयैव मद् मन्त्रिणां च वाद्यतः ॥ ५॥

२३ मनु ० मन्त्रि (मन्त्रिणां) मन्त्रिणां च वाद्यतः, मन्त्रिणां च वाद्यतः,

२४ मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

२५ मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

२६ मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

२७ मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

२८ मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

(१६-१७) मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

(१८) मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

(१९) मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

(२०-२१) मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

(२२-२३) मनु ० मन्त्रिणां च वाद्यतः । मन्त्रिणां च वाद्यतः मन्त्रिणां च वाद्यतः ।

(४) आत्माकी व्यापकता ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्वेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

२२ या तु सर्वं हि भूतानि	आ वास्तवमें सब भूतोंको
आत्मनि एव अनुपश्यति ।	आत्मामें अनुभवमें देखता है
२३ सर्वभूतेषु च आत्मानं	(और) सब भूतोंमें आत्माको
अनुपश्यति ।	अनुभवमें देखता है (वह)
२४ तत न विजुगुप्सते ।	किमीका तिरस्कार नहीं करता

[एक ही संश्रयमें जो ईश्वरके गुणोंका वर्णन किया है वह देखकर धर्मिक आत्माके लिये नहीं है + वह मनुष्यके स्वभाव और आचरणमें आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञानमें ईश्वर के लिये और कार्यमें परित्यक्त होना चाहिए । वह आचरणमें आत्मा का ती मनुष्यमें किसी समझद्वि हो के वे वह इसमें निगम्य है ।

(२२) या भूतानि आत्मनि अनुपश्यति = जो मनुष्य स्वभाव द्वारा इस सब पदार्थ निरूपण सर्व प्रथमतः आत्माके अन्दर है ईश्वर अनुभवमें निष्ठा पूर्वक ज्ञानका , और ३३ अक्षर -

(२३) सर्वभूतेषु आत्मानं = सर्व भूतोंमें तब एक आत्माके अनुभवपूर्वक देखता है, वह सब भूतोंके अन्दर बाहर आत्माका प्रत्यक्ष पूर्व अनुभव न्यक्त रूप

(२४) तत न विजुगुप्सते = किसी भूतमात्रका तिरस्कार नहीं करता अपने दूर इसे । यह बहुत कममें नहीं जाता अपने निश्चयमें कोई भी ईश्वर मन्त्रमें नहीं होता । (पाठस पाठ) 'ततो न विजिह्वित्वासे' = अपने निश्चयमें ईश्वर नहीं करता । सर्व भूतोंके निश्चयमें वह स्वभाव अत्यन्त

(५) सर्वत्र आत्मभाव ।

यस्मिन्तसर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को माहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

२५ यस्मिन् विजानतः

आत्मा एव

सर्वाणि भूतानि अभूत्;

२६ तत्र एकत्वं अनुपश्यतः

कः मोहः ?

कः शोकः ?

जहां विज्ञानीका

आत्मा ही

सर्व भूत बन गया,

वहां एकत्व अनुभव करनेवालेको

मोह कैसा ? और

शोक भी कैसा ?

मनमें रखना है । उसकी सर्वत्र समष्टि होनी है । पूर्वके मंत्रोंमें कहा अनुभव अधिक दृढ़ होनेके पश्चात् 'सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है,' इतनेही अनुभवपर स्थिर न रहता हुआ, ज्ञानात्मक उससे ऊपरकी भूमिका पर जाकर सर्वत्र 'आत्मैकत्वकी महिमा' प्रत्यक्ष करता है । यह अनुभव इस मंत्रने बताया है-]

(२५) वि+जानत् ' = विशेष रीतिसे जाननेवाला, देखनेवाला, अनुभव लेनेवाला, विशेष ज्ञानी । " विजानत " ऐसे ज्ञानीके लिए 'यस्मिन्' = जब, जिस समय, जिस अवस्थामें, जिस भूमिकापर पहुच जानेके बाद, जो अनुभव मिला, वह है, आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत् ' = आमाही सर्व भूत बने, आत्मस्वरूपकी सब विश्व भासने लगा, ऐसा जानकर अन्तमें यह जानना कि सामर्थ्य समर्थका निज ऐश्वर्य है और वह उससे भिन्न नहीं है । ऐसा जिसको ठीक अनुभव हुआ, उसमें सर्वात्मभाव स्थिर हुआ ऐसा समझना योग्य है ।

(२६) तत्र = वहां, उस अनुभव की अवस्थामें, ' एकत्वं अनुपश्यत ' = सर्वत्र एक आत्मतत्त्वका अनुभव लेनेवाले उस ज्ञानी मनुष्यको, ' कः मोहः, कः शोकः, ' = कौनसा मोह भ्रममें डालेगा और कौनसा शोक

(६) परमात्माके गुण-वर्णन ।

स पर्यगाच्छुद्धमकायमब्रजमक्षाधिरः सुदृढमपापविदम् ।

कश्मिनीपी परिभूः स्वयम्भूर्भाषातप्यतोऽवान्

२७ स पर्यगात्, अकायं अक्षाधिरं, अमर्षं सुदृढं, अपापविदं, शुद्धं; २८ कश्मिनीपी, परिभूः, स्वयम्भूः ।	वह सर्वत्र व्यापक है । वह देह-रहित स्वाधु-रहित अक्षरहित शुद्ध मिथ्याप वेदवली (समर्थ), वृष्ट वाता (मलका सामी), विजयी और कार्यक्षू है ।
---	--

जबकि शुद्ध अकाय करने- समर्थ होना । ऐसे इन्द्रियों मोह और योग्य वर्य यो
वह कहीं पहुँचा करने, वे उसे दृष्टी नहीं मारते । [ईश सर्वत्र है ऐसा
यों स्वयं मन्त्रे कहा है, वर्यत्र पुनः अधिक स्पष्टीकरण इस वाक्यमें मन्त्रे किया
है और वह " शुद्ध अमर्ष अर्थात् स्वयं, अक्षरव्यापक है । एक वह मन्त्र
बतला रहा है-]

(२७) स पर्यगात् = वह वाता सब स्थायी पहुँचा हुआ है,
सर्व व्यापक है वह सब जगत्ता है सर्वत्र है । अ-कायं अक्षरहित, अमर्षं
= वह अक्षररहित है अतः वह वह काय और मन्त्रे रहित है । अ-पाप-
विदम् = वह अपरोक्ष मन्त्र नहीं है । शुद्ध मिथ्याप है । शुद्ध, शुद्ध
= वह अमर्ष इन्द्रियों मिथ्याप वेदवली और अमर्ष है ।

(२८) कश्मिनी = (कश्मिनी) उसे अतीन्द्रिय ज्ञान है । अ-कायं
यों वीर्यवन्त्र है उसे देखता हुआ वर्यत्र वेदों की देखनेवाला वह मन्त्र है ।
मनीषी = मन्त्रों स्थायी रखनेवाला है । परिभू = वर्यत्र वेद

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(७) ज्ञानश्चेष्ट ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

२९ याथातथ्यतः

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः

अर्थान् व्यदधात् ।

३० ये अ-विद्या उपामते

ते अन्ध तमः प्रविशन्ति ।

(उसने) योग्य रातिसे

अनादि कालसे सब
अर्थोंकी व्यवस्था की है ।

जो अनात्मज्ञानका (ही केवल)
उपासना करने हैं ।

वे गलत अधिकारमें जाते हैं ।

सर्व प्रभाव डालनेवाला । 'अथ-भू' = अपनी शक्तियोंमेंही स्थित होनेवाला, जिसमें दूसरोंकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है ए० वह आत्मा है ।

(२९) अः ' = विषय, प्राप्त करवाने में माधन । 'शाश्वतीभ्यः समाभ्य याथातथ्यत अर्थान् व्यदधात्' = अनादि कालसे इन्द्रिय और उनका त्रयोंका योग्य रीतिमें तथा व्यवस्थामें उभने जान बूझ कर रखा है । [पूर्व से सात मंत्रोंमें दिखाया ज्ञान अनुभवमें आत्मसात कर लेनेपर उस ज्ञानों भक्तकी योग्यता इस मंत्रमें वर्णन लिए अनुमार हो जाती है । जीवात्मा परमेश्वरका अमृत पुत्र हानस, पूर्वोक्त प्रकाश आत्मशक्तिका विकास करके अपने पिताके समान होता है । परम पिता सर्व गुण पुत्रमें विकसित हुए हुए दिखने हैं । इन गुणोंका मनुष्यमें विकसित होना ही उपसर्गकी अन्तिम सिद्धि है ।]

(३०-३१) 'विद्या' = ईश विद्या, ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, विद्या, 'अविद्या' = अनैश-विद्या, अनैम-विद्या [प्रकृत-विद्या, सृष्टिविद्या, 'जगद्विद्या'] अविद्या । प्रथम मंत्रमें 'इशा वास्य इदं सर्वं जगत्' = ईशमें बसनेवाला यह सब जगत्' है ऐसा कहा है । यही ज्ञान अनुभवसे जानना है । यही मनुष्यका 'ज्ञानक्षेत्र' है । इसे जाननेके लिए 'इश' कोन है !

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।

३२ विद्यया अन्यत् एव आहुः,	आत्मज्ञानका (फल) भिन्न (है ऐसा) कहते हैं (और)
३३ अविद्यया अन्यत् आहुः ।	अनात्मज्ञानका (फल) भिन्न (है ऐसा) कहते हैं ।

सिवाय और कुछ नहीं करते, वे सृष्टि विद्याके उपसर्कोसे भी अधिक ग्राह्य अधिकारमें जाते हैं । क्योंकि जीवनयात्रा चलानेके लिए अत्यन्त आवश्यक और उसीसे प्राप्त होनेवाले व्यवहारके सुख-साधन भी इन्हें नहीं मिलते । इस प्रकार न प्रपञ्च और न परमार्थ, ऐसी इनकी स्थिति हो जाती है । [केवल सृष्टिविद्यापासक प्रपञ्चके साधन बढ़ाकर कुछ तो चैन करते हैं, पर केवल आत्मविद्यामें रमनवाले और उसका सिवाय कुछ न करनेवाले मनुष्य यदि उनके लिए दूसरोंने कुछ भी न किया, तो वे ऐहिक साधनोंके बिना जीवित भी नहीं रह सकते । अतः उनकी अधिक हीन अवस्था होती है, ऐसा जो इस मन्त्र द्वारा कहा है, वह नितात सत्य है ।]

(३२) ' अविद्यया अन्यत् ' = आत्मज्ञानसे एक भिन्नही फल मिलता है । इस आत्मविद्यामें आत्मशक्तिका विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, बन्धन दूर होते हैं अखण्ड आनन्द मिलता है, आत्मिक बल बढ़ता है, मनुष्य निर्मय होता है और सभी शान्तिका अनुभव मिलता है ।

(३३) ' अविद्यया अन्यत् ' = मनात्माकी अर्थात् जगत्की या सृष्टिकी विद्याके फल भिन्न हैं । सृष्टिविद्यासे ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुव्यवस्था, इस जगत्में सुखलामकी समृद्धि, उपभोगके साधनोंकी विपुलता प्राप्त होती है । जिसको अभ्युदय कहा जाता है वह सृष्टिविद्यासे प्राप्त होता है । इस जगत्में सुखपूर्वक रहनेके लिए जिन जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे सब साधन इससे मिलते हैं । इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न फल इन दोनों विद्याओंके हैं । इनमेंसे प्रत्येक विद्याके फलोंमें बहुत भारी प्रलोभन है । इससे साधारण मनुष्य उन प्रलोभनोंमें

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

३५ यः विद्या च अविद्या च जा आत्मज्ञान तथा प्राकृतिक-
तत् उभयं सह वेद । विज्ञान इन दोनोंको एकत्र
(उपयुक्त) जानता है, (वह)

३६ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा प्रकृतिविज्ञानसे मृत्युको दूरकरके
३७ विद्यया अमृतमश्नुते । आत्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त
करता है ।

मनुष्यके पास आते हैं, उनमेंसे श्रेय मार्ग का खीर धीरे लोकर करते हैं और श्रेय मार्ग से मन्दबुद्धिवाले पसद करते हैं और अन्नमें फसते हैं । जो श्रेय मार्गसे जाता है वह 'धीर' है, इस धीर श्रुतिके मनुष्यको इन दोनों विद्याओंसे अपना सच्चा कल्याण किस प्रकारसे प्राप्त होता है यह अगले मंत्रमें देखो।

(३५) ' विद्या और अविद्या ' = आत्माका ज्ञान और सृष्टिका विज्ञान ये दो प्रकारकी विद्याएँ मनुष्यकी उन्नति के लिए समान उपयोगी हैं । आत्मविद्यासे आत्मिक बल बढ़ता है, ज्ञान मिलती है तथा मनका समाधान होता है । इसी प्रकार सृष्टिकी विद्यामें एतदिक उत्कर्षके साधन प्राप्त होते हैं । इस रीतिमें इन दोनों विद्याओंसे मनुष्यकी वास्तविक उन्नति होती है । यह बात जिनकी समझमें आ गई है वह मनुष्य,

(३६) ' अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा ' = प्रकृतिकी विद्यासे, पंच महाभूतोंके ज्ञानसे सृष्टिके शब्दोंकी सहायतासे मृत्युको दूर करता है । मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु दुःख, व्यवहारमें दैनिक श्रमोंमें होनेवाली रुकावटें । ये रुकावटें ज्यों ज्यों सृष्टि विद्यासे विविध साधन तैयार होंगे, ज्यों ज्यों अन्न तथा पेय वस्तुका निर्माण होता जाएगा, इसी प्रकार ज्यों ज्यों उपभोगके पदार्थ निर्माण होते जाएंगे त्यों त्यों उनकी सहायतासे दूर होती जाएगी, और इन साधनोंसे इस क्षेत्रके दुःख कम करनेके बाद,

(३७) ' विद्यया अमृतमश्नुते ' आत्मविद्यासे अमरता, मोक्ष अर्थात्

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः ॥ १२ ॥

३९ ते ततः भूयः इव तमः । ये उनमें मानो अधिक अधिकार-
में जाते हैं, जो (केवल)
ये उ सम्भूत्या रताः । सघभावमें ही रमते हैं ।

करना । 'स+भू' इस धातुका अर्थ एक होकर रहना, सघ बनाना, ऐक्य करके आगे बढ़ाना, ऐसा है । 'संभूति' = सघ, जमाव, समाज, सगठित समाज । विभक्तोंकी विभिन्नता दूर करके उनका सगठन करना, भिन्न भिन्न प्राकृतिक परमाणुओंको एकत्रित करके उनसे सृष्टिरूप सगठित कार्य करना, भिन्न भिन्न व्यक्तिओंका सगठन करके उनका प्रबल सघ बनाना, जाति, राष्ट्र और राष्ट्रसघ बनाना, 'अ+संभूतिः' = असघटित अवस्था । उपरोक्त प्रकारका सगठन न होनेपर जो स्थिति होती है वह । व्यक्तिकी स्थिति, वैयक्तिक सत्ता, ये इस शब्दके मौलिक अर्थ हैं ।

(३८) 'असंभूतिके उपासक' = जो असघभावनाके—व्यक्ति सत्ताके उपासक, वैयक्तिक स्वातन्त्र्यकाही केवल आदर करनेवाले हैं वे अधिकारमें जाते हैं । जो अपना सगठन थोड़ा भी न करते हुए केवल व्यापकताही उन्नति करते हैं, उनमें सघ शक्तिक न बढ़नेमें सघबलसे होनेवाले कार्य करनेके लिए व मध्या अयोग्य होते हैं और इस कारण वे अवनत होते जाते हैं, क्योंकि मनुष्य सघमेंही उन्नत होनेवाला प्राणी है ।

(३९) 'संभूतिमें रमण करनेवाले' = केवल सघभावमेंही पूजक या केवल सघशक्ति बढ़ानेके लिए व्यक्तिका स्वातन्त्र्य नष्ट करनेवाले जो हैं वे " केवल सघसत्तावादी " भी अवनत होते हैं; क्योंकि इनके कार्यक्रममें व्यक्तिस्वातन्त्र्य को स्थान नहीं रहता और प्रत्येक व्यक्ति सघके नियमोंसे जकड़ा जानेसे धीरे धीरे उन्हें परतग्र होनेका अभ्यास हो जाता है । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिमें परतग्रता स्थिर होती गई तो व्यक्तिस्वातन्त्र्यही होनवाली सघ उन्नतिया बन्द हो जाती हैं । और अन्ततः गत्वा उस राष्ट्रकाही लय हा जाता है । अत्यधिक सघसत्तावादियोंके बहुमतके कारण राष्ट्रम सघ लोगोंकी ऐसी अवनति होती है ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वदोभयं सह ।

४२ इति धीराणां शुश्रुम

ये नः तत् विचक्षिरे ।

४३ यः संभूतिं च विनाशं च

तत् उभयं सह वेद ।

ऐसा धीरोदात्त वीरोंसे सुनते
आये हैं, जिन्होंने हमें उस विषय-
में उपदेश किया ।

जो सघभाव और असंघभाव
इन दोनोंका एकत्र (उपयोगी)
जानता है, (वह)

व्यक्तिसत्तावादमें वैयक्तिक गुण विकसित होते हैं, पर सघशक्ति न बढ़नेसे हानि होती है । अतः दोनों मतोंका सम दृष्टस विचार करके दोनोंही मतोंमेंसे उत्तम बात ही अपनाकर अपना मार्ग जा आधारता है यह सच्चा 'धीर' है] ।

(४२) ऐसे 'धीर' पुरुषों ने इन दोनों मार्गोंमें कुछ विलक्षण गुण देखते हैं, जिससे ये लोक दोनों ही मार्गोंमेंसे गुण लेते तथा दोष छोड़ते हुए अपने पुरुषार्थसे अपने परम कल्याणका प्राप्त कर लेते हैं । ये किस प्रकार अपना कल्याण साधन हैं यह अगले मंत्रमें दर्शाया है उस मंत्रका उत्तम विचार अब एकाग्रतापूर्वक देखिए —

(४३) 'संभूति' = सघशक्ति, सघनिष्ठा, समाजनिष्ठा, राष्ट्रनिष्ठा, समाजसत्तावाद निष्ठा ये इसके भाव हैं । सघशक्तिसे क्या लाभ हैं और उसके विना क्या क्या हानियाँ होती हैं यह भी पिछली टिप्पणीमें दिखाया है । इस मंत्रमें दोनोंमसे हानिको दूर करके दोनोंसे लाभ कैसे लेना यह दिखाया है । 'विनाश' यह शब्द इस मंत्रमें 'असंभूति' के लिए आया है । 'असंभूति' का अर्थ 'सघसत्ता' की विरोधी 'व्यासंसत्ता' है । इस व्यक्तिक सत्ताके लिए इस मंत्रमें 'विनाश' शब्द प्रयुक्त किया गया है । 'विनाश' शब्दके दो अर्थ हैं — [१] 'विगतः नाशः यस्मात्' = जिसका नाश नहीं

(९) सत्यधर्मका दर्शन ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

४६ हिरण्मयेन पात्रेण	सोनेके पात्रसे
सत्यस्य मुखं अपिहितम्	सत्यका मुख ढका हुआ है ।

मुखी परमेश्वरही है । इसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद ये पांच अंग हैं। सगठित सघके विषयमें ऐसी एकात्मता रखते हुए उनकी आत्मशक्ति अमोघ ऐक्यसे झुट्ट करानेपर प्रत्येक राष्ट्रमें सघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहनेपर भी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी सघके लिए आत्मसमर्पणरूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करता हुआ अर्थात् स्वतः सघरूप-विद्वान्मूलरूप-घनता हुआ अमरत्व प्राप्त कर सकेगा । मनुष्योंका 'कर्मक्षेत्र' इन तीन मंत्रों-ने दर्शाया है । [वाजसनयी माध्यादिन साहितामें ये तीन मंत्र पड़िले तथा विद्या अविद्याके बाधन हैं ।] [सघ आत्मोज्ज्वलि अपरिप्रहृष्टिसे होती है । परि-प्रहृष्टा अर्थ है अपना सुख बढ़ानेके लिए सुख साधनोंको अपने पास इकट्ठा-वरना । यही सुवर्णका प्रलोभन है । इसके नीचे सब धर्मनिमय दब जाते हैं, इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मका ज्ञान नहीं सकता । इस प्रलोभनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है —

(४६) 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुख अपिहितम्' = सुवर्णके चमकीले पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है । सोनेके नीचे सत्य छिपा पड़ा है । यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है । अपराध करनेपर भी अधिकारियोंको घूस देकर उसे छिपाया जा सकता है । घूस न लेते हुए कर्तव्य-भ्रष्ट न होनेवाले बहुत धाढ़े हैं । घूस लुच्चाई आदिसे सत्यका मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनीय व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है ।

उत्सर्गं पूजयामासु सत्यवर्माय वसुधै ॥ १५ ॥

४७ इ पृथक् !

हे शोषक !

सुस्थधर्माय ध्याये

सहाय्य धर्म दृष्टमेवे डिप

यत् त्वे अपाहृष्ट ।

ਹਏ ਸੁੰ ਘੋੜੇ ਦੇ ।

(४७) 'सत्यधर्माय इष्टमे तत् त्वं मयाकृणु' = स्वधर्मके
रक्षण करनेके लिये इस उद्देश्यसे तु मुझे कर । सुवर्षका व्यवहार होभने बाद
स्वधर्म हीन होनेका व्यवहारमें रूप कोटीकी ओर ध्यान व ऐश्वर्य के
अविचारों की मध्यममें वह शहर कासी कीक कर अपनेमें कमजोर होते हैं। इसका
कारण यह है कि वे इस सुवर्षाग्रहके एक और करते हैं । इस मन्त्र का वह
आध्यात्मिक अर्थ हुआ : सत्यधर्मका पालन करनेको इच्छा हो तो
सुवर्षका योग्य छोड़ना चाहिये । वह सुवर्ष जिस वैदिक सामा-
यिक, एहीन शान्ति तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी वर्षा उत्पन्न है । 'राष्ट्रधर्म'
पालन करना हा तो सुवर्षका योग्य स्वागता चाहिये । सुवर्ष-
के योग्य मनुष्योंके चित्तवा राहु । नाश होता है वह दमितल कप्त रहा है ।
इस मन्त्र का वह व्याख्यात्मक अर्थ हुआ । इसका वास्तवमें अर्थ हुना है—

(४१६ ४७) - परमात्मा 'सत्य-साक्षर' है । अक्षर इस शब्दका अन्वयार्थ साक्षात् हम पढ़ा हुआ है । उसका विद्या गुरु त्रि-जगत् पञ्चाननम् परमात्मनो दर्शन हो नहीं सकत । उसको दर्शन करनेवालोंको इस शब्दके मोक्षसे गुरु हान्य चाहिए । त्रिसे जगती आत्माकी शक्ति बलानी हो उसे आधुनिक मोक्षवाच्य केवल नहीं चाहिए ।

[वाच-मौखी-मानसिक संज्ञितार्थे इत शब्दप्रत्ययान्वयः भवति । अतः इत्येव
स्वात्मने 'योऽसाक्षाद्विद्यते' इति भेदः । इत्यत्र कर्म भेदः १५ कीटिप्य
नयेति ।]

(१०) उपासना ।

पूयन्नेकैर्पे यम सूर्य प्राजान्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तजो यत्त रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि ।

४८ पूयन्, एक ऋपे,

यम, सूर्य

प्राजापत्य !

४९ रश्मीन् व्यूह,

समूह ।

५० यत् त कल्याणतम

तेजा रूप,

तत् ते पश्यामि ।

ह पोषक ! एक दृष्टा !

निय मरु ! तेजप्रदाता !

प्रज'पालक '

(तेरी। किरणोंको एकत्र कर,

और उनको एक आर कर ।

जो तेरा अत्यन्त कल्याणकारी ।

तेजोमय रूप है,

वह तेरा रूप मैं देखता हू ।

[४८] पूयन् = यमका पोषक है। वह 'एक' है और वह 'ऋप' = ज्ञाता, ज्ञानी सर्वज्ञ और अतन्त्रियार्थदर्शी है। वही यम' = सयका निगामक सबको अपने नियमोंमें रखनेवाला, 'सूर्य' = तेज देनेवाला, प्रकाशित करनेवाला और 'प्राजापत्य' = जो प्रजाओंको पालन करनेवाला है वह प्रजापाल प्रजापतिसे उत्पन्न होनेवाले प्राजापत्य अर्थात् अपने सामर्थ्य । इन सब सामर्थ्योंमें युक्त वह देव है। इस देवको भक्तियुक्त अन्तःकरणसे इस भ्रममें पड़ता है। ह पोषक, नियामक तेजस्वा, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञदत्त ! मेरी सहायता कर ।

[४९] रश्मीन् व्यूह समूह' = किरणोंको इकट्ठा करके एक ओर कर । हे देव ! इस जगत्की इस चक्रवाहटके कारण मुझ तेरा रूप निखना नही, तूही मेरे पर दया करके मेरी आंखोंको चका चौंध करनेवाले ये तेरे तेज दूर कर, तूने ऐसा किया कि -

[५०] 'त कल्याणतम तेजो रूप पश्यामि' = तेरे अत्यन्त + कल्याण-मय तेजस्वा स्वरूपको मैं देखता हू । हे देव ! त ही रूप का और

योऽसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

(११) आत्म-परीक्षण ।

वापुरनिलमपुतमयेद् मस्मान्तं चरिरेम् ।

- ५१ यः असौ असौ पुरुषः आ यह प्राणोंमें पुरुष है ।
 स अह अस्मि । यह मैं हूँ ।
- ५२ वायुः अन्-इह अमृतम् । प्राण अपार्थिक अमृत है ।
 ५३ अथ इह चरिरे मस्मान्तम् । आर यह चरिरे अन्तम अस्म
 हामकाका है ।

विद्या । सेठी कृपासे दिया ऐसा महानमन और कल्याणमय रूप तुझे दीक्षा नहीं लक्ष्य ।
 [५१] 'यः असौ असौ पुरुषः = जो यह तेरे [असौ-अमृतम्]
 प्राणकणिके आवाहने होमेवाका और [पुरुषः = पुरि+वसति] इस
 चरिरेस्ती वयःमें रहनेवाला वह कारण कर अमृतम और वि भेदकमे प्रति
 की इच्छा करेवाला चरिरे प्राण के परम पुरुषार्थ करेकी इच्छास्ती जो
 ऐसा मन्त्र है सा अह अस्मि = वही मैं हूँ । मैं तेरा एकनिष्ठ मन्त्र हूँ ।
 [५२ मंत्रके पहिले दो वाक्य वाचककी भाष्यसे चरित्तमि यों है । मंत्रका
 अन्तम भाग इस प्रकार है 'योऽसावाहस्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।
 ओम्' को प्रश्न ३१७० यह मन्त्र मन्त्र यही १० यों है और 'हिरण्यदेवः
 इह मन्त्र उक्तार्थ है । इच्छा करे- " [यः असौ] जो यह [आहस्ये
 पुरुषः] अस्मिमें पुरुष है, [साः असौ अहम्] यह यह मैं हूँ, [ओम् का
 प्रश्न] मन्त्र भाष्यकी तरह व्याख्यार्थ जोकाहारा विद्याका भाष्य है ।"] इह
 मन्त्रके करनेके अनुसार मन्त्री परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए ।

[५३] हे मनुष्य । यदि तुझे उपात होना है तो तू यह कर्तव्य रख कि
 [वायुः] वह हवाका प्राण [अन्+इह अ+मृतम्] अपार्थिक अमृतकी
 प्रशंसा चरित्तम है ।

[५३] और [अथ चरिरे मस्मान्तम्] यह चरिरे अन्तम मन्त्र होमेवाका ।
 ५ (आत्म-परीक्षण)

ओ३म क्रतो स्मर, कृत-स्मर, क्रतो स्मर, कृत-स्मर ॥ १७ ॥

५४ क्रतो ! ओ स्मर ।

कृत स्मर

क्रतो स्मर

कृतं स्मर

हे कमकर्ता पुरुष ! सर्वरक्षक
आत्माका ध्यान कर ।

किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ।

हे कर्म करनेवाले पुरुष !

स्मरण कर

किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ।

है । अतः मर जानेवाले शरीरकी अपेक्षा अमर प्राणशक्तिकी आराधना करनी उचित है । मरनेवाले शरीरमें अमर प्राणशक्ति है और उस प्राणशक्तिके अन्दर तू (असौ पुरुष = जीव-आत्मा) है । तेरी उन्नतिके लिए ये बाहिरके सर्व साधन हैं । इन साधनोंका सहायतासे तुझे अपने अमरपनका अनुभव लेना है । “इन अनित्य साधनोंके योगसे तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है ।” इस-लिये —

[५४] हे “क्रतो ” = कर्म करनेवाले पुरुष । कर्म करना जिसका स्वभाव है ऐसे हे मनुष्य ! ‘ ओ स्मर ’ = [अवति इति ओम्] उस सर्वरक्षक परमात्माका ध्यान कर । उसके गुणोंका चिन्तन कर । उसके कल्याणमय गुणोंको निराध्यामनस अपने आत्मबुद्धिमनमें नित्यप्रति बढ़ा । ‘कृतं स्मर’ = रोज प्रातः-साय तने जो कोई कर्म किए हों उनका स्मरण कर । ध्यानपूर्वक विचार करके देख कि तूने जो कोई कर्म किए हैं वे आत्माकी उन्नति करनेवाले हैं अथवा अवनति । दिनभर किए हुए कर्मोंका निरीक्षण सायकालको तथा रातको किए हुए कर्मोंका निरीक्षण प्रातःकाल कर । इस प्रकार अपने आचरणोंकी परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं निरीक्षण कर, जिससे कि तेरी कक्षा भूल हो रहा है और वहाँ तुझे वास्तवमें क्या करना चाहिए, यह अपने आप तेरे ध्यानमें आएगा । “हमें स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए । जिसमें अपनी अवनति होगी ऐसे आचरण हमें कभी करने नहीं चाहिए ।”

[वाजसनेयी माध्यादिन संहितामें यह मन्त्र १५ वां है । आर इसके द्वितीयाध्यायमें “ किल्बे स्मर ” ऐसा अधिक पाठ है । ‘ किल्ब, किल्प्, कल्प् ’

(१२) प्रार्थना ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विभ्रानि इव वयुनानि विद्वान् ।

५५ अग्ने ! अस्मान् सुपथा राये नय ।	हे प्रकाशका! हमें उत्तम मार्गसे अम्बुदपथकी ले चले ।
५६ देव ! विभ्रानि वयुनानि विद्वान् ।	हे देव ! तू सब हमारे कमौलो आलता है ।

यस्य अर्थ अर्थ होता योग्य होता ऐसा है । अतः विद्वान् अस्मान् = अर्थात् अपने धर्मार्थकी वृद्धि किए वह कारण कर । अपने आप समर्थ होनेके लिए अगर कोई अनुष्ठान ईश्वर-कारण कर अतः सब कुछ कमौल्य कारण कर । अपने वृद्धिके लिए इस केतु मार्गका अनुष्ठान कर ।]

अद्विष्ट इव नया करते हैं इसका निरीक्षण करना वह आत्मपराङ्मुख आत्मोन्मुख होने के लिए अर्थात् अज्ञानक है । इनके विना किसी भी प्रकारकी सहायता होने संभव नहीं । सात्विके वारुणा वीर्य भी इस परीक्षणके सिद्ध नहीं होता । अतः हमारी आत्मपराङ्मुख सहायता आत्मपराङ्मुख विद्या नहीं होता ।

[५५] हे अग्ने = अस्मान् देवतासे ईश्वर । अस्मान् सुपथा राये नय = हमें अच्छे मार्गसे अम्बुदपथकी प्राप्त करा । हमें अग्निसे आगेकी वृद्धि करनी न हो । यह भिक्षे चले न भिक्षे पर हमारे आचरणका मार्ग सुगम हो । हे देव ! ५ —

[५६] विभ्रानि वयुनानि विद्वान् = हमारे सर्व कर्म आलता है । क्योंकि तू सर्वज्ञानी सर्वज्ञ है और सर्वज्ञ है । इस कारण हम जो कुछ करते हैं चाहे वह भिक्षा भी सुपथसे भिक्षा भिक्षा ही तो भी वह तुझे सब कमल पता लग जाता है । इसका ही नहीं हमारे आपका कुछा संज्ञा भी तुझे भिक्षा ही जाता है । ऐसी वक्ष्या हम ऐसे भिक्षा भिक्षा ही नहीं कर सकते ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

५७ अस्मत् जुहुराणं एनः
युयोधि ।

५८ ते भूयिष्ठां नम उक्तिं
विधेम ।

हमारे पाससे सब कुटिल पाप
दूर कर ।

तेरी विशेष नमनपूर्वक स्तुति
हम करते हैं ।

हमारे सब अच्छे बुरे कर्मोंका तुझे पता होनेसे जिस मार्गसे जानेसे हमारा उद्धार होगा, उस भ्रष्ट और शुद्ध मार्गसे तू हमें ले चल । हमारेसँ कुटिलता और पापभाव होंगे तो वे,

[५७] ' जुहुराण एन अस्मत् युयोधि ' = कुटिलता और पाप, हमारेसे सर्वदाके लिए दूर कर । इन पापोंके साथ युद्ध करके उन्हें दूर करनेके लिये हमें शक्ति दे ।

[५८] इस तेरी कृपाके लिए हम तुझे 'नमः विधेम' = नमस्कार करते हैं । तुझे देनेके लिए हमारे पास नमस्कारके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है । हे देव ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार, और हमारा उद्धार कर ।

“ ओम् । पूर्णमद पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावाशिष्यत ॥

ओम् । शान्ति । शान्तिः । शान्ति ॥

परमेश्वरका नाम-संकीर्तन ।

हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरके नामोंका अत्यन्त विशेष स्थान देखा जाता है। वेदोंमें अनेक नामोंके एकही उद्देश्यके वर्णन हैं । [ल १।१४६।४६]। अथर्ववेदोंमें भी ऐसा ही है। इतिहास और पुराणोंमें भी वह संकीर्तन निरन्तर चलता आता है। इस छोटीसी ईश्वरपुस्तकमें भी कुछ कुछ 'परमात्म-गुणवर्णन' आया है। ऐसा कहाँ कहाँ परमात्माके गुणोंका संकीर्तन नहीं किया है ? इस प्रत्यक्ष विचार करना आवश्यक है। इस संकीर्तनका मूल सिद्धान्त क्या है उसे जाननेके बिना इस नाम संकीर्तनका प्रत्यक्ष फलमें आधा अड़िखा है, इसलिये इस विषयमें संकीर्तन को ठीक वहाँ करना है।

नमके लिये बहुतसा सांख्यिक उदाहरण न करते हुए वैदिक कर्मोंका एक सूक्ष्मत्व वहाँ कहा जायित और वह यह है कि— परमेश्वर सबका पिता है और हम सब उसके पुत्र हैं। वह अपनी इस नाम संकीर्तनका मूल आधार है। मैं परमेश्वरका पुत्र हूँ और परमेश्वर मेरा पिता है, वह अपनी मनमें स्थिर हो जानेके लिये ही सबमें बहुत अल्पता नमके जाती है और वह यह कि पुत्र बनत होते होते कभी न कभी अपने पिताके समान हो जायें। इस नियमालु वार परमेश्वरके भी पुत्र बनत होजिये मार्गमें हैं और वे कभी न कभी परमेश्वरके समान 'स्वर्ग' [मुच] अन्तिम-आत्मन्य लक्ष्य होयें। इस विचारधाराले जानेका सिद्धान्त हमारे सामने आ जाता—

[१] परमेश्वर सबका पितृ पिता है ।

[२] हम सब उसके अत्यन्त पुत्र हैं।

[३] पिताके पुत्रवर्ग अत्यन्त अल्पता पुत्रोंमें होतेही हैं ।

[४] पुत्रके गुणधर्म पूर्ण विकसित हुए कि वह अपने पिताके समान होता है ।

[५] पुत्रके उन्नत होनेकी भी परम सीमा है, और कभी न कभी वह उन्नतिकी परम सीमा प्रत्येकको प्राप्त होगी ही ।

जिन अर्थोंमें 'पिता-पुत्रके गुणधर्म' पितामें पूर्णत्वको पहुँचे हुए हैं और पुत्रमें अक्षरूपसे हैं, तो वे समानही हैं, उन अर्थोंमें जा गुणबोधक नाम होंगे वे पिता पुत्रके एकसे ही होने चाहिए, इसमें सन्देह नहीं । जैसे 'द्रष्टा [देखनेवाला], श्रोता [सुननेवाला]' इत्यादि नाम केवल गुण बोधक होनेसे, वे जैसे पिताके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं वैसे ही पुत्रके लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं । यह जो व्यावहारिक अनुभव है वह वैसा ही इस परमार्थमें भी सत्य है और इसी लिए वेद, उपनिषद् तथा इतर धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके जो गुण-संकीर्तन किए हैं, वे यदि परमेश्वरका पूर्ण तथा वर्णन कर रहे हैं, तो वे ही कभी न कभी इस जीवात्माके लिए भी लागू होंगे । जैसे परमेश्वर 'ज्ञाता' है, यह जैसे आज परमेश्वरका सत्य वर्णन है, वैसाही जब यह जीव 'ज्ञाता' होगा, तब उसका भी यही वर्णन होगा । इस समय भा देखिये कि- परमेश्वरकी 'विशाल ब्रह्माण्ड व्याप्ति' को तथा जीवकी शरीरमें 'छोटेसे पिण्डमें व्याप्तिको' मनमें यदि न लाया जाए, तो 'ज्ञातृत्व-शक्ति' दोनोंमें ही होनेसे जैसे 'ज्ञाता' शब्द पूणतया परमेश्वरके लिए लगता है, वैसेही वह अक्षरूपसे जीवके लिए भी अवश्य ही लागू होता है । इससे पता चलता है कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके नामसंकीर्तनोंमें किए गए गुण-वर्णन जीवात्माको उन गुणोंके बढानेकी सूचना दे रहे हैं, और इसी लिए वे साधकको अत्यन्त सरल उन्नतिका मार्ग दर्शानेवाले हैं, यह नि सन्देह है ।

'तेरा पिता शूर, वीर और धीर था, उसने इतिहासमें ये ये महत्त्वके कार्य किए' इत्यादि प्रकारके बढावके वर्णन लहकोंके सुननेपर उनके अन्तःकरणोंमें 'हम भी उनके सदृश बनें ।' ऐसा भाव आना स्वाभाविक है ।

करने कबलि करनेकी कसौटिया भावसंकीर्तनसे होती है और वह जिस प्रकारसे होती है सभी प्रकारसे इस धर्मोंका ध्यान करती रहना चाहिए ।

ऐसीमें जिस देवताओंका वर्णन है और वर्णन को परमेश्वरके वर्णन हैं, वे सब कथोक्त कथानुसार मनुष्यमें कबलितो स्फूर्ति उत्पन्न करने तथा उसे कबलितके स्वरूपमें स्थापित करे हैं । जैसे परब्रह्मका अष्टावशोपर बीजस्वरूप बताया हुआ है, वैसी कबलि, वायु, सूर्य आदि ऐसीतरे केवलसे अंककलासे इस बीजस्वरूपके साथ साथ कठोरमें आकर इतिवृत्ति और कथनोंमें बनी हुई हैं । इसलिए यदि किसी भी देवताका वर्णन हो तो वह हमारे कठोरमें स्थित अंकमूल देवताका भी अनुपस्थिति वर्णन है ही । वह अन्तर्भावक बड़े ब्रह्मस्वरूपका वस्तु हीनहीन विस्मयार्थक भी अंककलासे है ही । इसी प्रकार वहाँ भी समझना चाहिए । इससे वह बात ध्यानमें आती है कि हमारे देवताके वर्णनमें परमेश्वरका तथा इस देवताओंका वर्णन भी ब्रह्मस्वरूपका कबलित वर्णन होता हुआ वही निम्न स्वरूप कबलितकिया भी है और वह निम्नमें सब सब कबलितकित कबलितोंके बराबर पूर्ण करनेके लिए हमें आदेश है । इस प्रकार वर्णनसे मनुष्यकी शेष शेष और वहाँ समय अपने भावस्वरूपमें बड़े किया है । इस शेषका वैशिष्ट्य वही इस बातसे व्यक्त है कि आगे शास्त्रिकमें बतलाने बतलाना है । जिससे पाठक हृदयमें आनन्द लेंगे । मूल भावन बतलानेके लिए अगर संज्ञानन्द विद्या है । अर्थात् सब सब भावनाओंमें संज्ञानन्द वह मूल भावन है । ऐसा समझना चाहिये —

परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध ।

परमात्माके वर्णन ।

मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध ।

(शान्ति मन्त्र)

१ अदः पूर्णम् ।
(वह ब्रह्म पूर्ण है)

मनुष्य पूर्ण बननेके लिए पुरुषार्थ करे । (इस जन्ममें कुछ विशेष नहीं तो किसी एक गुणमें पूर्णत्व संपादन करे ।)

२ ओम् ।
(वह रक्षक है)

आत्मसंरक्षणकी शक्ति शरीरमें लाओ और पीड़ा देनेवाले प्राणिमणियोंसे पीड़ितोंका संरक्षण कर ।

(मन्त्र १)

३ ईशा इदं सर्वं वास्यम् ।
(ईश्वरसे यह सब वसनेयोग्य है । ईश्वर ईश होकर सर्वत्र वसा हुआ है)

अपनी शक्तिपर स्वामित्व संपादन करके जगत्में व्यवहार कर । परार्थीन वृत्तिमें रहते हुए अपने दिन न बिता ।

(मन्त्र ४)

४ अन्-एजत् ।
(वह कांपता नहीं, वह चंचल नहीं)

किसीसे डरकर उसके सामने कांपे नहीं अर्थात् कभी किसीसे न डरे, चंचलपन छोड़ दे ।

५ एकम् ।

(वह एक, अद्वितीय है ।)

५ अगत्में अद्वितीय बने, (किसी भी एक विद्यामें तो अवश्य अद्वितीय बने ।)

६ मनसा जयीय* ।

(वह मनसे वेमबाण है)

६ अपना धम बढ़ावे माझस्य खुर करे ।

७ देवा एनत् न आप्नुवन् ।

(देवइसे प्राप्त नहीं कर सकते वह देवोंके प्रयत्न करमेपर जो उपस अग्रप्य है)

७ अपनी साधनार्थ दूसर सहसा समझ के ऐसी चोरी न करे । (अथवा स्वयं दूसरोंका संघा छक बने पर हमसे स्वयं न घेरा जावे ऐसे सुरक्षित स्थान पर रहे ।)

८ पूर्वम् ।

(वह सबसे प्रथम पूर्वसे है)

८ सबसे प्रथम स्वयं कार्य आरंभ करे । (इस काममें यह प्रथम है ऐसा कहावे)

९ अर्पत्

(वह डानी अथवा स्फूर्ति देने बाळा है)

९ जान प्राप्त करे और अनतामें स्फूर्ति बढ़ावे ।

१० तिष्ठत् ।

(वह स्थिर है)

१० अपना पाया मजबूत करे । अपने आश्रय पर स्थिर रहे । (युद्धमें अपना स्थान न छोड़े)

११ तत् घावत अभ्यान्

अख्येति ।

(वह बाइनेबाछे दूसरके जाने निकल जाय एनी अपनी तीपारी जाता है)

११ सब स्पर्धा करनेवाले पीछे रह जावे और स्वयं उनसे भाग करे ।

१२ तस्मिन् मातरिश्वा अपः । १२ अपने आप स्वयं कर्म करे
दधाति । और दूसरोंस कर्म करावे ।

(इसके आधारसे जीव कर्म
धारण करते है)

(मंत्र ५)

१३ तत् एजति तत् न एजति । १३ स्वयं अपने स्थानपर स्थिर
(वह दूसरोंको चलाता है, रहे और दूसरोंको अपनी ओर
पर स्वयं हिलता नहीं) आकर्षित करके उन्हें सत्कर्मोंमें
प्रवृत्त करावे ।

१४ तत् दूरे तत् उ अन्तिके । १४ दुर्जनोंसे दूर रहे और सदा
(वह अज्ञानीके लिए दूर तथा सज्जनोंके पास रह ।
ज्ञानीके लिए समीप है)

१५ तत् सर्वस्य अन्तः १५ अपनी अन्दरकी तथा बाहि
बाह्यतः च । रकी अवस्थाओंका निरीक्षण
(वह सबके अन्दर और बाहर है) करे ।

(मंत्र ६)

१६ सर्वाणि भूतानि आत्मनि, १६ सब भूतोंको अपना आधार
आत्मा च सर्व भूतेषु । देवे और स्वयं सब भूतोंमें प्रिय
(सब भूत आत्मामें और आत्मा होकर रहे ।
सब भूतोंमें है)

(मंत्र ७)

१७ आत्मा एव सर्वाणि १७ सब भूतोंको अपने आत्माके
भूतानि । समान देखे ।

(आत्माही सर्वभूत है)

(मन्त्र ८)

- | | |
|--|--|
| १८ सः परि अगात् ।
(वह सर्वत्र गया हुआ है) | १८ स्वयं अपने सब कार्यक्षेत्रों का निरीक्षण करे । |
| १९ अकाय अद्याविरम् ।
(वह बहरहित आधुन्यरहित है) | १९ शरीरकी दृष्टि बलिबो बलानेवाली आत्मिक शक्ति गढ़ावे । |
| २० अम्रणम् ।
(वह मजबूत है) | २० मन्त्र पाठ आदि न होने देना आत्मिक प्राप्त करे । |
| २१ शुद्धं, शुक्लम् ।
(वह पवित्र और दीर्घवान् है) | २१ पवित्र और दीर्घवान् बने । |
| २२ अपापविन्दुम् ।
(वह पापसे बिन्दु हुआ हुआ नहीं है) | २२ पापसे बिन्दु मत हो । (पाप मत कर) |
| २३ कविः ।
(वह अतीन्द्रियार्थवादी है) | २३ मनुष्य कलम दृष्टिकर्ता न होता हुआ सूक्ष्मशक्तियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे । |
| २४ मनीषी ।
(वह मनका स्वामी है विचारशील है) | २४ हमें मनका संयम करना चाहिये तथा विचारपूर्वक कर्तव्य करने चाहिये । |
| २५ परिभूः ।
(वह सर्वसे श्रेष्ठ अथवा विजयी है) | २५ अपनेको शत्रुके आधीन न करते हुए जिससे विजय प्राप्त हो सके ऐसी अपनी शक्ति बढ़ाने चाहिये । |
| २६ स्वर्पम् ।
(वह अपनी शक्तिसे स्थित है) | २६ अपनी शक्तिसे रहे पराबलम्बी न बने । |

२७ याथातथ्यतः अर्थान् १७ कर्तव्य जैसे करने चाहिए ।
 व्यदधात् । ॥ जैसे बिना भूल चूकके करता
 (करनेयोग्य कार्य बढ़ करता रहे ।
 रहता है)

(मन्त्र १६)

२८ पूषा । ॥ २८ गरीव-असमर्थोंका पालन-
 (वह पोषक है) ॥ पोषण करना चाहिए ।
 २९ एक ऋषिः ॥ २९ विशेष ज्ञान संपादन करे ।
 (वह एक ज्ञानी है) ॥
 ३० यमः । ॥ ३० हम अपनी शक्तिपर प्रभुत्व
 (वह नियामक है) ॥ प्राप्त करें, नियामक बनें ।
 ३१ सूर्यः । ॥ ३१ दूसरोंको प्रकाशका सन्मार्ग
 (वह प्रकाशक है) ॥ दिखावें ।
 ३२ प्राजापत्यः । ॥ ३२ आश्रितोंका उत्तम रीतिसे
 (वह पालक शक्तिसे युक्त है) ॥ पालन करे ।
 ३३ कल्याणतमं रूपम् । ॥ ३३ नित्य प्रसन्नचित्तसे व्यवहार
 (उसका रूप अत्यन्त कल्याणमय करे ।
 है) ॥

(मन्त्र १८)

३४ सुपथा राये नय (ति) । ॥ ३४ स्वतः उत्तम मार्गसे ऐश्वर्य
 (वह उत्तम मार्गसे ऐश्वर्यके प्राप्त करे और दूसरोंको उत्तम
 पथ ले जाता है) ॥ मार्गसे उन्नतिको पहुँचाए ।

३५ विम्वानि बभुनानि विद्वान् । ३५ सब कर्तव्याकर्तव्य कर्मोंका
(बहु धर्म कर्म ज्ञानता है) योग्य ज्ञान प्राप्त करे ।

३६ कुतुराणां एनः युध्यत । ३६ कुटिलता और पापसे (सत्य
(बहु कुटिलता और पापसे) का पक्ष छोड़े हुए) युद्ध करके
युद्ध करता है) उलझा परामर्श करे ।

सूचना ।

यहाँ जो ईश्वरनिबद्धे मेंमंति बात दिना गया है वह सब एक-एक मंत्रसे
उलझाई दिखता है ऐसा किसीकोभी नहीं समझना यही चाहिए । मन्त्रमन्त्र
मन्त्रों का अर्थ समझकर कर्मों का बोझ बोझ मन्त्र करके परमेश्वरके पुर्व का ज्ञान धीरे
धीरे होने लगेगा । परमेश्वर हम विद्यार्थियों के अक्षरों से प्रत्यक्ष धर्म अनुभव
लक्षित कर रहा है कि जो मन्त्र धर्म हैं उसे छोड़े और मन्त्रों में करते हुए अपने पिताके
समान कर्मोंका प्रत्यक्ष करवा चाहिए ।

येही कम मनुष्यको कर्मसे मुक्त करता है और इसे कर्म मार्गसे अपनी
उन्नति जाननी है । परमेश्वरके मन्त्रों का अर्थ समझते कितना अधिक मन्त्र होना
उत्तम अधिक कर्मोंकी। एतन्मन्त्र साधककी होना। और इस मार्गसे करते मन्त्र साध
कर्मों का ज्ञान भी पैदा कम जाएगा और ज्ञानी साधकका स्वभाव वैसा बन गया
अर्थात् वह स्वभाविकतया अहमियतासे जैसे कर्म करने कम गया कि वह
साधकके लक्षण समीप पहुँचने लगा ऐसा मार्गमें कोई रोक नहीं दे । परमेश्वरके
बाप तराते हैं वह जैसे वह इस विवेकसे समझा जा सकता है । वह
मन्त्रोंमें इस वचनका वह ऐसा उपयोग साधकके लिए है । इस प्रकार वेदमन्त्रोंका
ज्ञानपूर्वक विचार करके बीच प्रज्ञा करेगा वेदका प्रकाश हुए ज्ञान का एक
मन्त्र का आकाश मन्त्र दिना परमेश्वरका एक नाम जो मनुष्यके परम कर्तव्यके लिए
प्राप्त है, देवा जो समझा जाता है । वह जितना बताया है वह पाठकी
मार्गमें जाएगा जब इस ईश्वरनिबद्ध बोझों की विज्ञा गीतिसे मन्त्र करते हैं—

ईशोपनिषद्में वर्णित मनुष्यकी उन्नतिकी मार्ग ।

(१) मनुष्यका साध्य ।

मनुष्यका साध्य 'तीन शान्ति' स्थापना करना और उन तीन शान्तियोंका अनुभव लेना है । (१) वैयक्तिक शान्ति — शरीर, इन्द्रिया मन, बुद्धि और आत्मामें किसी भी प्रकारकी अशान्ति न रहे और यहाँ पूर्ण शान्ति स्थिर रहे, उसेही "आध्यात्मिक शान्ति" कहते हैं । योगादि साधन इसी अनुभवके लिए हैं । (२) सामाजिक शान्ति — समाजमें विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें शान्ति स्थापना करना और यह दूसरा साध्य मनुष्यके सम्मुख है । सर्व प्राणियोंके विषयमें प्रेम और दया भावके विचार और आचारको बढ़ानेमें भी यह शान्ति स्थापित हो सकती है । इसेही आधिर्मात्मिक शान्ति कहते हैं । (३) जागतिक शान्ति — सब चराचर जगत्में शान्ति और समताका स्थापन करना यह आन्तम साध्य है । इसे 'आधिदैविक शान्ति' कहते हैं । प्रत्येक मनुष्यको ये त्रिविध शान्तिके साध्य साधने हैं । इन कर्तव्योंका स्मरण प्रत्येकको करानेके लिए "शान्ति शान्ति शान्ति " इस प्रकार तीनवार उच्चारण किया जाता है । (देखो शान्ति मंत्र)

(२) साधन ।

उपरोक्त तीन साध्योंको साधनेके लिए 'ज्ञान और कर्म' ये दो साधन हैं । इन साधनोंको प्रयोगमें लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको स्थापित किया गया है । ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञान प्राप्त किया जाता है और कर्मेन्द्रियोंमें कर्म किए जाते हैं ।

ज्ञानेन्द्रियोंके लिए 'ज्ञान-क्षेत्र' और कर्मेन्द्रियोंके लिए 'कर्म-क्षेत्र' है । जगत्में जाननेयोग्य वस्तुएँ यथा ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानक्षेत्रकी व्याप्तिके अन्तर्गत हैं । पुरुष और प्रकृत, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और अनात्मा, ये दोही प्रकारके पदार्थ ससारमें हैं । अतः इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर

यह सर्व जगत्को यथायोग्य गति देनेके पवित्र कर्म गर्वदा रहा है। अतः मनुष्यको भी अपने कर्तव्य कर्म करने अत्यावश्यक है। इस प्रकार दोनोंका अन्ध सन्बन्ध होता है यथा एकका धूमरेखे जो सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्धसे कुछ विशेष कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। इन्हें करनेपर उन्नति उन्नति और न करनेपर अवनति होती है। सारांश रूपसे मनुष्यके धर्मक्षेत्रका यह स्वरूप है।

(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ।

मनुष्यका प्रथम कर्तव्य अपने शरीरमें सग विकास करना है। शरीरमें स्थूल और सूक्ष्म, अनेक शक्तियाँ हैं। स्थूल शक्ति अधिक बढ़ानेसे सूक्ष्म शक्तियोंकी प्रगति रुक जाती है और सूक्ष्म शक्तियोंके बढ़ानेका प्रयत्न किया तो स्थूल शक्तियाँ क्षीण होती हैं। इसलिए इन दोनों शक्तियोंका समविकास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। मनुष्यके अंदरकी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंका नामही “ आध्यात्मिक शक्ति ” है और इन शक्तियोंका विकास करनाही ‘ आध्यात्मिक शक्ति-विकास ’ है। ‘ वक् प्राण चक्षु श्रोत्र इत्यध्यात्मम् । (छा० उ० ३।१।८।२) ’ याणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र इत्यादि शक्तियाँ आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। इनका विकास आध्यात्मिक शक्तिका विकास है। स्थूल शक्तियाँ बढ़कर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायता करें और सूक्ष्म शक्तियाँ बढ़कर स्थूल शक्तियोंकी सहायक बनें, इसका नाम है समविकास। ‘ आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ’ का तात्पर्य वैयक्तिक शक्तियोंका कार्यक्षेत्र है।

(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र ।

व्यक्तिकी यह शक्ति जैसे जैसे बढ़ती जाएगी, त्यों त्यों उसके बाह्य कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाएंगे। उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, सघ, जाति, राष्ट्र, मानवजनता, प्राणी, समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एकमे एक उसकी अन्त शक्तिके विकासानुसार विस्तृत होते जाएंगे। मनुष्य व्यक्ति सम्पूर्ण समाष्टिके आधारसे स्थित है। व्यक्तिकी शक्तिका पूरा विकास होनेसे पूर्व वह व्यक्ति समाष्टिके कार्य करनेके लिए

योग्य नहीं हो सकती । अतः स्वीकृत्य अपनी योग्यता बताकर अपनी क्षमिका
बहु क्षमिके हितार्थ करना चाहिये ।

(६) आधिवैयक्तिक कार्यक्षेत्र ।

इसके अन्तर्गत अपने विषयके सम्बन्धों को इस मनुष्यके कानों से सुनाई दे रहा है। इस सम्बन्धों को विद्यार्थी है उस व्यक्तिसे व्यक्ति और संशयों तथा अज्ञान के अन्तर्गत, उस मनुष्य विपुल इच्छाओं प्रत्यक्ष ही साक्ष्य हैं उन्हें मनुष्य के अन्तर्गत अज्ञान और व्यक्तिसे मिलने के अन्तर्गत, वह व्यक्तिगत-व्यक्तिगत है।

(७) यज्ञ और अयज्ञ ।

[illegible]

(८) कर्म अकर्म और विकर्म ।

[illegible]

अपने कर्तव्य करने चाहिए । केवल अस्तित्वके लिए ही जो कर्तव्य करने हैं उनका नाम ' अकर्म ' है । क्योंकि उनका परिणाम व्यक्ति तक सीमित है । [' अकर्म ' शब्दका निष्काम कर्म ऐसा दूसरा अर्थ भी है ।] जो कर्तव्य व्यक्ति और समाजके हित करने वाले हैं और जो यज्ञ बुद्धिसे लिए जाते हैं, उनका नाम ' कर्म ' है । यज्ञवाचक सव शब्द इसी कर्मके पर्याय शब्द हैं और व्यक्ति तथा समाजका घात करनेवाले जो कर्म हैं, उन्हें ' विकर्म ' अर्थात्, विरुद्ध कर्म या जो नहीं करने चाहिए ऐसे कर्म, कहते हैं । अकर्म तथा कर्म, ये दोनों आविरोधपूर्वक करने चाहिए । केवल विकर्म नहीं करने चाहिए । कर्म क्षेत्रोंमें यह कर्मकी व्याप्ति इतनी विशाल है । तथापि ज्ञान द्वारा अपने कर्तव्य कर्म योग्य रीतिसे करना मनुष्यकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है । इसी लिए ' कुर्वन्नेवह कर्माणि ' (म० २) = ' कर्म करने चाहिए, ' ऐसा उपदेश किया गया है । इस मन्त्रमें कर्म कराना चाहिए ऐसा जो कहा है, वे कर्म कौनसे यह रूप दिखाया गया है । व्यक्ति और सघकी उन्नति करने वाले जो यज्ञरूप कर्म हैं, वे ही करने चाहिए और इन कर्मोंको करते हुए ' जिजीविषेच्छत समा ' । (म० २) = ' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर ' । यह वेदका उपदेश है । न कम लिप्यते नरे ' । (म० २) = ' कर्मोंका लेप मनुष्यको नहीं लगता ' ऐसा जो कहा है, वे ये ही यज्ञरूप कर्म हैं । ये मनुष्यको पवित्र करते हैं, उच्च पदको प्राप्त कराते हैं और पूज्य बनाते हैं ।

इस प्रकार ' ज्ञान और कर्म ' इन दोनों साधनोंसे साधकका कैसे लाभ होता है और उनके द्वारा आत्मोद्धार कैसे करना चाहिए यह यहां दिखाया है । ये दो, एक हीकी दाईं और बाईं बाजू हैं, अथवा एक ही उन्नतिके रखके ये दोनों पहिये हैं । इनके द्वारा उन्नतिके मार्गपर मनुष्यके चलनेसे उसका विकास होकर, उसे अन्तमें जो पद प्राप्त करना है वहां वह पहुंच जाता है ।

(९) अमरत्व प्राप्ति का मार्ग ।

साधक ' कर्मक्षेत्र ' का वर्णन करनेवाले जो (१२-१४) मंत्र हैं उनमें " वैयक्तिक द्वारा अपना विनाश दूर करके, सघनिष्ठा द्वारा समुदायके लिए कर्म करते

‘सज्जनोंका परिपालन, दुर्जनोका शासन और मानवधर्मकी स्थापना’ ये ईश्वरके कार्य हमें करने चाहिए, यही भाषे है । और इन कामोंका करना यह सया ‘भक्ति मार्ग’ है । अपना शक्तिके कारण दुर्जन अनेक प्रकारके दुःख अशक्तोंको देते हैं । उन दु राशे अशक्तोंका संरक्षण करके उन्हें सुखी करना, यह ‘जनतामें जनार्दनकी उपासना’ करना है । विद्यासे, शक्तिसे अधिकारसे वा घनसे युक्त पुरुषोंकी सेवा करनेकी अवश्यकता नहीं है, क्यों कि उनही सेवा करनेवाले उन्हें चाहिए इतना मिल सकते हैं । परन्तु जो विद्वान् नहीं है, बलाढ्य नहीं है, अधिकारी नहीं है, या धनवान् नहीं है, उन्हें कोई सहायक नहीं मिलता । अतः ऐसे दीन जनोकी सेवा करना, उसकी स्थिति सुधारना, उसकी उन्नतिके लिए अपने आपको समर्पित कर देना, यह ‘ईश्वरकी सेवा’ है । दीनोंकी दया यह सत्ताका मूल धन है, (तुकाराम) । इसी मूल धनसे यह भक्तिका व्यापार करना है । जो सघभावना, सघनिष्ठा या सघोपासना अथवा सभूतिका उपासना इस ईशोपनिषद्में कहाँ है वह यही है । ईश्वर ‘दीनोद्धारक’ है । इसी दीन जनोद्धारणके कार्यका करना जन सघकी उपासना है । ‘गुरुका सेवा करनी चाहिए’ अर्थात् गुरुकी किसी बातकी न्यूनता नहीं रहनी चाहिए । इसी प्रकार दीनोंकी सेवा करनी चाहिए अर्थात् उनका दीनपन इत्थं कर, उन्हें अदीन बनाकर उनके उद्धारार्थ जो शुद्ध करना आवश्यक हो वह करना चाहिए ।

यही दीनोद्धारका काम परमेश्वरकी भक्ति है । दु स्त्रियोंके दु ख देखकर चिन्त करण सिद्ध होना चाहिए । इस विषयमें अथर्व वेदका मन्त्र देखिए -

ये वध्यमानमनु दीध्याना मन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।

अग्निष्टानग्रे प्रमुमाकु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराण ॥

(अथर्व० २।३।३)

‘जो तेजस्वी लोग बद्ध मनुष्यको अपने मन और चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते हैं, उन्हें ही प्रजाजनके साथ रमण करनेवाला विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीतिसे सुख करता है ।

इस मन्त्रमें भी यही कहा है कि चीन, तुर्की, यज्ञ और परतन कोनोंपर जो जीव बना करते हैं, कबकी शक्तिता बुर करनेके लिए अभिप्राय करीबम करते हैं, कभीही अपने प्रथम (अभ्युद्योग) वह सुख करता है, कभीकि विषम मिमता देव (अथवा संरक्षण) कर्मगामी रहता हुआ कबके आनन्दसे आनन्दित होये जाता है। इसीलिए वह कर्मगामी के सुखीकी बैककर विषम होता है और कर्मगामी वह बैकगामी उस सुखीके कर्मगामी के लिए भेजता करता है। संभवति क्या है, वह किसी प्राप्त करकी बाधिए, और उसे बरिष्ठ (अपुत्रार्थ) अथवा कर्म गामी प्राप्त होता है वह इस विषयमें आनन्द आनन्दता ।

वेद प्रतिपादित अधिकारी यह है। जिस मनुष्यकी वितनी योग्यता होती वतने अधिकारक्षेत्रमें वह कार्य कर सकेगा। एवम् बैक निर्णय ऐश्वर्य कोम और बचपचार करके यैके ईश्वर देना क देता कर्मज लक्ष्य है। कर्मज कोई वृत्तिमें भीजा एक वेदर मंतीही ईश्वर देना कर लक्ष्य है। कार्य कीर कर्मज बैकको पंडित करकेयैके कर्मज बुर करके कर्मगामी कर्मज करके परमे श्वरकी देना की देता कर्मज लक्ष्य है।

‘अथवा कर्मज कर्मजार्थ सिद्धि विम्वति प्राप्तः । (म. गी. १.१.४६)

कर्मज ईश्वरकी कर्मज करके सिद्धि प्राप्त करकेयह यह कार्य है। वे कर्मज कर्मज सिद्धि हैं और कर्मजकी पुण्यार्थ कर्मजके कर्मज करके कर्मज की कर्मज है, परन्तु कर्म लक्ष्य लक्ष्य ‘अथवा कर्मजार्थकी देता कर्मज है। कर्मज ‘अथवा कर्मज’ है और कर्मज ‘अथवा कर्मज और कर्मजार्थ’ के शीर्षे कर्मज कर्मज कर्मजार्थ है। इस कर्मज कर्मजार्थ कर्मजार्थ कर्मज और कर्मज कर्मज होता है यह कर्मज कर्मज कर्मजार्थ कर्मज प्रतिपादित है।

आनन्द कर्मज अधिकारीयै इस कर्मजकोकर्मजार्थ ईश्वर बाधि होती है देता कोई भी यही कर्मज और कर्मज “आनन्द-कर्मज” हैं। कर्मज है देता कर्मज कर्मज है। यह कर्मज कर्मजार्थ कर्मजार्थ कर्मजार्थ है कर्मज ईश्वरकी कर्मज कर्मजार्थ कर्मज कर्मज है। कर्मज कर्मज कर्मज कर्मजार्थ होती है। (उ. क. कर्मज कर्मजार्थ : म. गी. १.) ईश्वर कर्मज है और कर्मज कर्मज है, कर्मजार्थ

यदि उसकी अन्तःकरणमें पूजा हुई, तो उसके ' नाम ' से बताये कर्तव्य बहि-
स्थ जनतत्त्व जनार्दनके लिए उसे करनेहा चाहिए । तभी कर्तव्याकी आन्त-
रिक और बाह्य पूर्णता होना संभव है । एक अन्तर्यामीके कर्तव्य एक तो आधा
कार्य हुआ । दूसरा बहिस्थ ईश्वरके लिये कर्तव्य करने तक कार्य पूर्णही नहीं
होगा ।

अब यहां एकही प्रश्नका विचार करना है और वह यह कि ' जन सघ भक्ति'
अथवा ' सभूतिकी भक्ति ' या पृथिवीपर सपूर्ण जनताकी सेवा एक मनुष्यसे कैसे
हो सकती है ? वस्तुतः ' सभूति ' में सर्व प्राणियोंकी समष्टिकी कल्पना है ।
किसी भी एक मनुष्यके लिए सब मनुष्योंतक अपनी सेवा पहुंचाना संभव नहीं ।
इसलिए अपना दया भाव और प्रेमभाव जितना संभव हो, उतना विस्तृत कर-
नेसे, उससे जितनी जन सघ सेवा होगी, उतनी वह जनार्दनको अर्पण होगी और
उतनी उसकी उन्नतिमें सहायक होगी । सब प्राणियों तक उसकी सेवा पहुंचने-
की कोई आवश्यकता नहीं है । केवल उसकी सघभक्तिसे अधर्म बढना नहीं
चाहिए । इतनी सावधानी उसे रखनी चाहिए ।

राक्षस भी सघोपासक थे, परन्तु वे अपने सघबलसे दूसरोंका नाश करके
अपने भोगको बढानेका प्रयत्न करनेके कारण उनके प्रयत्न जनताके दुःख बढा-
नेके लिये कारण होते थे । इसलिए ऐसे प्रयत्नोंसे अधोगति होती है । ' सब
दुष्ट दूर हों, अथवा दुष्टोंकी वृत्ति बदल जाए, सज्जनोंका संरक्षण हो और
धर्मका उत्कर्ष हो ' । इस दिशामें जो सघकी भक्ति होता है वही उद्धारक है ।
इसमें दूसरोंके रक्तसे सने हुए भोग हमें मिले ऐसा उद्देश नहीं है, अपितु सर्वत्र
शांति फले, मानवधर्मका उत्कर्ष हो और सब लोक सुखी हों, इस दृष्टिसे प्रयत्न
करना चाहिए । इस कर्तव्यकी दिशा इस उपनिषद्ने सभूति प्रकरणद्वारा दर्शायी
है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, सतोष, तप, स्वाध्याय,
और ईश्वरभक्ति, यह जो शुद्ध सनातन धर्म है, उसका प्रारंभ अहिंसासे अर्थात्
भूतदयासे होकर अतः ' सर्वस्व समर्पण ' में होता है । इससे राक्षसी स्वार्थको
इस धर्ममें जरा भी स्थान नहीं है ।

(१) मा गृधः = सोम मत कर ।

(२) स्वर्त्तन गृक्षीणा = दाते भोग कर ।

(३) घृता स्मर = किए हुए गन्धोपा भाग्य कर ।

इत्यादि आशा इस ईशोपनिषद्म (अथर्व यजु अ० ४० में) है । इन्द्रदेवसे पर वेदमें आशाये नहीं है ऐसा भिन्नोपा भी समझना नहीं चाहिए । परन्तु तैत्तिरीय, आशाये नहीं है ऐसा मानते हैं, उनका अर्थ यह यह है कि-उन्हें चाहिए उतनी आशाये वेदमें नहीं है । ' आशा होनेवाली काम करना, नहीं तो नहीं ' यह शक्ति दात मनुष्योकी है ।

स्वतंत्र मनुष्य आन्तरिक स्फूर्तिमें काम करता है । लोगोंकी गुलाम बनानेकी वेदकी इच्छा नहीं है, अतः वह अपनीकी शक्तिकी आशा नहीं करता, परन्तु वह ऐसी शक्ति योजना करके वर्गमें करता है कि उसमें मनुष्यक अन्तःकरणमें सर्व स्फूर्ति उत्पन्न हो । और वह अपनी अन्तःस्फूर्तिसे स्वतंत्रतासे अपने कर्तव्य को तथा अपनी उन्नति करे ।

इसमें पाठगोरो पता चलेगा कि वेदमंत्रमें आशार्थक प्रयोग बहुतसे नहीं हैं, वह वैदिक धर्मके महत्त्वका बखानवाली बात है । ' इन्द्र अपने बलसे शत्रुका नाश करता है ' ऐसा कहतेहैं । हम अपना बल बलाकर शत्रुका नाश करना चाहिए ' ऐसी स्फूर्ति मनमें उत्पन्न होती है । इसी प्रकार वेदाम त्रिम देवताकी स्तुति है वह उपामकके अन्नकरणमें वैसी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिए ही है । अतः वह आशा न भी हुई तो भी आशाकाही काम करती है । इसनाही नहीं परन्तु उसका परिणाम उससे भी अधिक बड़ा होता है । इस दृष्टिसे वेदके प्रशंसापरक मंत्र अत्यन्त महत्त्वके हैं । इस ईशोपनिषद्म बहुतसे मंत्र ' आत्मा ' देवताकी प्रशंसा परक हैं । केवल तृतीय मंत्र ' आत्मघातक ' लोगोंकी निन्दा परक है । इस प्रकारसे निन्दा करनेवाले जो मंत्र हैं, वे अवनतिकारक कर्म न करनेका उपदेश करते हैं । ' अमुक मत कगे ' ऐसी निषेधक आशा न करते हुए ' ऐसे आत्मघातक कर्म करनेसे ऐसी अधोगति होती है ' ऐसा वेदमंत्रोंमें

[illegible]

अब देखेंगे सम्प्रत्यक्ष में दूसरी एक वही यहाँ प्यास में रखने योग्य है। और यह वह कि देखेंगे प्रकृत रूप मशीन की संख्या बहुत अधिक है। और मित्रों की संख्या बहुत बड़ी है। इस छोटी सी कल्पित में अठारह मशीनों के एक एक ही मंत्र मित्राचारक है। और यह मंत्र प्रकृतगत है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मन जिस बात का अधिक मनन करता है तबतुल्य वह बनता है। बनता वह बन है। इसलिए मन के सामने जो वही बात लगी बाधिए और जो वही वही इस विषय में अत्यधिक विचार करना चाहिए। जिस कल्प में भी यदि पुरी कल्पना मन के सामने रख दी जाय तो भी ठीक पुरी परिणाम बनता होता है। पुरी पुरी कल्पना में विचारक में बार बार अपने सामने आकर कल्प प्रभाव की वीरे बनता जाता है और अन्त में वह स्थिर कल्प बनकर बन जाता है। इसीलिये विवेकी आकाश में बहुत बड़ी होनी चाहिए और वे देखेंगे जहाँ होनी चाहिए कि कल्पना का संभव बनकर प्रभाव बन पड़े। पुरी बात मत करो ऐसा करने में प्रथम पुरी बात की कल्पना मनुष्य की ही नहीं बल्कि फिर कल्पना विचार विचार करना। इसलिए हम विवेक का बार मन के सामने आने को भी कल्पना अच्छा परिणाम होने के स्वामन्त्र कल्पना बनकर अति परिणाम ही होता है। इसीलिये मन के एक चर्म। विचार करते हुए देखेंगे पुरी वाने के विवेकी के चर्म चर्म बहुत होते हैं और प्रकृत के मंत्र प्रकृत के चर्म की स्तुति देने वाले होने के अधिक हैं। ईशानात्मक में कल्पना करने के ५० हैं अथवा १०० मंत्र प्रकृतगत हैं और केवल एक ही मंत्र विचारक है।

उपदेश भी केवल 'सत्यधर्मकी दृष्टि' (म० १५) मनुष्यके मनमें उत्पन्न करनेके लिए ही करना चाहिए और यह सत्यकी प्रशंसा करके किया जाना चाहिए न कि असत्यका निषेध करते हुए । वेदके उपदशम यह विवेक अवश्य है । इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए ईशापनिषद्का उपदेश सर्वत्र सरल शब्दोंमें नाचे दिया जाता है । भावार्थ स्पष्टतया ध्यानमें आनेके लिए उसमें कुछ शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं कहीं क्रियापदोंमें थोड़ासा परिवर्तन भी किया है । कहा क्या परिवर्तन किया गया है यह पीछे दिए गए उपनिषद् वचनोंसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है । यह परिवर्तन इसलिये किया है कि किस मंत्रसे किस भावना की जाप्रति मनमें उत्पन्न होती है, यह पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ सके ।

उपनिषद्का भावार्थ ।

शान्ति मंत्र ।

यह आत्मा पूर्ण है और उससे उत्पन्न हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है । पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है । यद्यपि उस पूर्णसे यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है तथापि वह जैसाका वैसाही परिपूर्ण रहा है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई है ।

आत्मज्ञान ।

(१) (आत्मा) ईश इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप रही है । इस जगत्में सबके आधारसे व्यक्ति रहती है । अन व्यक्तिको अपने भोगोंका त्याग (यज्ञ) सबके लिए करना चाहिए और त्याग करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भाग करना योग्य है कोई लोभ न करे । धन किसी एक व्यक्तिका नहीं, वह सब जनसघका है ।

(२) मनुष्य इस जगत्में सर्वदा प्रशस्त कर्मही करता रहे, और सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न करे । यह ही मनुष्यका धर्म है, इसे ध्यानमें रखना चाहिए । इसको छोड़कर दूसरा उच्चातेका मार्ग नहीं है । सत्कर्म करनेसे मनुष्यको दास नहीं लगता ।

(१) केवल कारिणीय कर्मोंके लिए ही प्रतिष्ठ कुछ लोग हैं, परन्तु अन्ये आरम्भिक काम करा भी नहीं होता । जो आरम्भिकताकी ओर हैं वे मरनेके बाद और अतीतों की, ऐसीही ओरोंमें निम्ने जाते हैं ।

(४) वह आत्मा कारिणीय विचार, सबसे प्रथम ज्ञान और धन्यता की ओर है । वह इन्द्रियोंको नहीं देखता । उस वेदनाएँ पदार्थोंकी अपेक्षा की कल्पना वेद अधिक है । उसके आधारोंकी मनुष्य अपनी कर्म धारण करता रहता है ।

(५) वह स्वयं नहीं दिसता उसे भी कल्पों बसाता है । वह दूर होता हुआ भी कल्पों पाता है । वह कल्पों अन्तर और बाहिर भी है ।

(६) जो सर्व प्राणिमोंकी आत्माओं और आत्माओं सब प्राणिमोंमें देखता है वह किसीकी भी विराट्पर नहीं करता ।

(७) जिस समय आत्माकी उस मृत वह पदा वह समय सर्वत्र एकत्रक ! आत्मनः प्रसिद्ध होनेके उसे किसी भी आत्माके ओर कल्पों ओर नहीं होता ।

(८) वह सर्व आत्मनः है । वह वेद प्रति स्वयं और अपने रहित है । वह जो पदार्थ वह ज्ञान विद्याएँ ऐक्यकी अनेकविधाओंकी मन्त्र स्थानी विद्या और स्वयं है, और वह ज्ञान सब कर्मोंमें योग्य रहित करता रहता है ।

(९) जो केवल आत्मनः विद्याकी ओर काम करते हैं वे अन्तर्गत होते हैं । इसी प्रकार जो केवल आत्माकी विद्याके ओर काम करते हैं वे भी अन्तर्गत होते हैं ।

(१०) आत्मनः विद्याएँ सब और आत्माकी विद्याएँ सब इन्द्र इन्द्र है वेदा विचारोंके अन्तर्गतमें रहता है ।

(११) आत्मनः विद्या और आत्माकी विद्या वे दोनोंही सब सब अन्तर्गत हैं । आत्मनः विद्याके (आन्तरिक) कुछ दूर करने आत्मनः आत्माकी विद्याके अन्तर्गत हो रहता है ।

(१२) जिनकी दृष्टि केवल व्यक्तित्वही सीमित है वे 'अधोगतिको' जाते हैं और जिनकी दृष्टि केवल सघनक सीमित है वे भी अधोगतिको पाते हैं ।

(१३) व्यक्ति निष्ठासे एक लाभ होता है और सघनिष्ठासे दूसरा लाभ होता है ऐसा विचारशाल सपदशक कहते आये है ।

(१४) व्यक्तिका हित और सघका हित इन दोनोंको साथ चाहिए व्यक्तिकी उपासनासे वैयक्तिक कष्ट दूर करके सघसेवासे साधक अमर हो सकता है ।

(१५) सत्यका मुख सुवर्णके ढक्कनसे ढका गया है । अत यदि सत्य देखना हो तो वह सुवर्णका ढक्कन दूर करना चाहिए ।

(१६) हे पोषक ! हे सर्वज्ञ और नियामक प्रजापति देव ! तेरी किरणें एक और कर और अपना मंगलमय रूप मुझे दिखा, वह मुझे देखना है । शरीर धारण किया हुआ मैं प्राणशक्तिसे उन्नति चाहनेवाला तेरा उपासक हू ।

(१७) प्राण अपारिधिव अमृत है और यह स्थूल शरीर नाशवान् है । अत हे जीव ! ओंकारमा जप कर और अपन किए हुए कर्मोंपर विचार कर ।

(१८) हे देव ! हमें उत्तम मार्गमें अभ्युदयके पास लेजा । तू हमारे सब कर्मोंको जानताही है । हमारेसे कुटिल पापाको दूर कर । इसके लिए हम सब तुझे नमस्कार करते हैं ।

यह इशोपनिषद्का सरल रूपान्तर है । शब्दश अनुवाद पूर्व स्थानमें दिया है । यह यहां पुन देकर द्विशक्तिका दोष किया है तथापि कई मंत्रोंका आशय केवल भाषान्तरस एकदम ध्यानमें नहीं आसकता, अत यह सरल शब्दोंसे रूपान्तर दिया है । इस आत्म सूक्तमें मुख्य- आत्माका गुणवर्णन है तथापि प्रार्थना, उपासना, निन्दा, स्तुति प्रशंसा आज्ञा याचना, आदेश आदि सब प्रकारके मंत्र इसमें हैं इस दृष्टिसे विचार करनेवालेको यह सरल रूपान्तरसहायक होगा । आज्ञा और निन्दा कितनी थोड़ी है और प्रशंसा कितनी अधिक है इनकी तुलना यहां देखनेयोग्य है । बुराईकी निन्दातक अधिक नहीं करनी चाहिए, और की भी ता बहुत थोड़ी । बुरे शब्दोंसे जिह्वाको थोड़ासा भी सराब करन ।

न, यदिए । पुनितारने कयही कयारने, यदिए । की देख कयन दे ।
देखिए—

मद्र कर्मेणि श्रुत्याम वेवाः

मद्रं पश्येमाक्षमिर्वज्राः ।

(म १।८५।८)

“ कयही गते, कयने पुनै और कयहीही कयने वेवा । ” किती की
करने विनेष करनेके लिए की पुनैका समकक न की । केवै स्तुति और
कयनकरक मंत्र कयिक कया किना और कयनकरक कय है, कयन की
कारन है । कयन स्वयनकर्म कयनेके लक्ष होमेका होमेके केवै प्रकनकीन
किनाही केवैके समने की है । कयके किनान केन की कय है कय कयनकी
है । कयन कर्म कयके कयका कयनित कयने कय कय ? कयके कयनिक
कय एक होमेके कयने कय का कयता है पर कयनकी गयन कयके
कयन कयनन है । कयनकरनार्थ एक और एक किने होते हैं ? कय प्रकर
कर कयनन कय की है । कयके किनान केन कय कयनन कयन है ।
केसी कयने कय कय कयन कयनका कयना कयन है पर कय कयन एक
कयन कयन कर कय कयि कयननके कयन किना का कयता है । की कय
कय किनेके कयननके कयने कयनकी कयनिए ।

कयनेक मनेमें की स्तुतिविनक मंत्र हैं, के पयननके पुनैके कयनका कर
रहे हैं । पयन कयी न कयी कय कयननकी कयना कय पुनैके कयन होमेकाकी
है कयन कयने कयन किननन कयनके मनी स्वयनन कयन न है कय
कयन कीन (म १९) न कय है कय केवै कयनके कयन न है कयन
कयनेके कयनी कयति किनी हुई है और किनी कीनी है, कय कयने कीन कीन
कयन होय । कय कर कयनेके कयनी कयनननपर किनी प्रकति हुई है कयन
कयन प्रकते की हो कयता है ।

तीन मार्गः ।

कयननार्थ कयनन और कयनन के तीन नार्थ हैं । कयने कयनी स्तुति विनक
नार्थ कयना कयने केवै कयनका का कयता है कय कय देखिए । कयनेक कयने

(१) जो परमात्मापरक स्तुतिका वर्णन है, वह हमारी आत्माका, उसके पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी अन्तिम अवस्थाका वर्णन है क्योंकि 'सोऽह (म० १६) ' = ' वह मैं ' हानेसे वह वर्णन जैसा उसका है वैसा मेरा भी है, ऐसा समझ कर यह आत्माका ज्ञान हमें कितना प्राप्त हुआ है, यह देखते जाना और आगे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते जाना यह, ' ज्ञान मार्ग ' है । (२) परमात्मा क्या करता है यह उसके वर्णनसे या स्तुतिसे जान कर तत्सदृश कर्म ' स (इव) अह ' = ' उसके सदृश मैं ' होऊंगा ऐसी भावनासे अपने कर्तव्य क्षेत्रानुसार यथा संभव निदोषपूर्ण कर्म करते रहना यह ' कर्ममार्ग ' है । इस विषयमें, क्या क्या बोध लेना चाहिए यह भ्रष्टखण्डोंसे तालिका द्वारा पहिले दिया है । (३) इन दोनों मार्गोंमें कुछ समानताका नता दिखाया जाता है । जगत्में परमेश्वरके जो महानसे महान कार्य चल रहे हैं उनमेंसे यथा संभव भाग परमेश्वरार्पण बुद्धिसे घटाना, उससे जनतामें जनार्दनकी यथाशक्ति सेवा करनी और फलेच्छाकी जरा भी इच्छा न रखते हुए ' (तस्यऽह) ' = ' उसका मैं हूँ ' ऐसी भावनासे केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे की गई सेवाको परमेश्वरकी ही अर्पण करना, यह ' भक्तिमार्ग ' है । एकही स्तुति विषयक सूक्तसे ये तीनों मार्ग इस रीतिसे विचार और मनन करनेवालों को सुगमतया समझमें आ सकते हैं । आधुनिक समयमेंही ये मार्ग प्रचलित हुए हैं ऐसी बात नहीं है । अपितु वेदमें ये पूर्वसेही इस प्रकारसे हैं । इस ईशोपनिषद्के मंत्रोंसे ये तीनों मार्ग पाठक समझ सकेंगे । भक्तिमार्गका उत्तम उदाहरण हनुमान्जीका है । रामनामके जपमें अतर्ककी पवित्रता करनी और श्रीरामके जगदुद्धारक कर्मोंका यथा शक्ति अपने ऊपर भार लेकर ईश्वरकी ही घहिरग उपासना करनी, ये भक्तिमार्गके द्विविध कार्य श्री हनुमानजीकी जीवनीके देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होते हैं । ऐसे और भी बहुत भक्त हैं । उनके चरित्रोंमें भी यही बात दिखाई देगी ।

विरोधका परिहार ।

ईशोपनिषद्में ' विद्या प्रकरण ' और ' सभूति प्रकरण ' हैं । उनमें ' विद्या अविद्या ' और ' सभूति असभूति ' इन शब्दोंके अनेक भाष्यकारोंने अत्यन्त

सिद्धि करने लिए है। इसीलिए हमने उन्हें अनन्तत आनन्दि क्या दिये हैं वह
कदा विद्या कायमक है। इसका लक्ष्यजन इस प्रकार है—

अस्य मंत्रो ईशा वाचमिहं सर्वं एषा वाच्य है । इम्यै ' ईश और सर्व ' के दो पदार्थ वाच्य हैं और वे एक दूसरेसे भिन्न हैं । अस्म्य वाच्योत्र है ।

ईष	इष
ईष	अपस्
ईष	अनीष
कयमा	कयस्ता
काजम-विष	कयस्तम विषा
--- विषा	क --- विषा

इस प्रकार वे राज्य प्रथम संज्ञके अङ्गुष्ठोत्पत्ति करते हैं। यही कार्य विद्या कविद्या प्रकरणमें प्रकृत। आत्मज्ञान और वस्तुस्थिति विज्ञान इस कार्यमें आते हैं। पूर्वमें संज्ञके कर्तव्य विचार करने पर जबकि संज्ञोक्त स्थानोक्त प्रथमस्थाने होकर है। और किन्हीं भी प्रथमस्थाने केना नहीं रहती।

[illegible]

कथं	कथं
कथं	कथं
कथं	कथं

मं+भू वायुच नर्क एक हो र रहना है । एक होकर न रहनेके
बान्धो मं+भू वायु बन्नी गीह । एक होकर जब बड़े रहनेको एक
कल्पना जार बड़ेने मं+भू एकही रूपी कल्पना देवी को कल्पनाई संभूति
और मंभूति इस को कल्पनाई दिखाई नई । इस होमोली मंभीर मंभूति बड़ेने

मनुष्यकी उन्नति किस प्रकार साधी जा सकती है । यह इस प्रकरणमें दर्शाया गया है ।

परस्पर विरोधी शक्तियोंसे एक दूसरेके लिए सहायता-कैसी प्राप्त करनी चाहिए, यह बात पाठक यहां अवश्य ध्यानपूर्वक देखें, क्योंकि जगतमें सर्वदा परस्पर विरोधी विचारकोंकी यदि कहीं भेट भी होगई तो एक दूसरेके विचारोंकी एकता न होनेसे प्रायः झगड़े होते हैं और उनके बढ जानेसे दोनोंका नाश हो जाता है । परन्तु यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंको एक केन्द्रमें परस्पर सहायक बनाया जाय, तो दोनोंका अनेक प्रकारसे कल्याण हो सकता है । विरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियोंको सहायक कैसे बनाना चाहिए, यह इस प्रकरणका विचार करनेवाला सुगमतासे समझ सकता है ।

असुर्य लोक ।

‘असुर्य लोक’ गाढा अघकारसे व्याप्त हैं ऐसा तृतीय मन्त्रमें कहा है । ये असुर्य लोक कौनसे हैं, इस विषयमें बहुतोंने बहुतसे तर्क किए हैं । कितनोंने ‘सूर्य जहां नहीं है ऐसे देश’ ऐसा अर्थ किया है । परन्तु यहांपर ‘असुर्य’ शब्द है ‘असुर्य’ नहीं । दूसरे कुछ मानते हैं कि ‘असुर’ का अर्थ राक्षस है, और उनके देशका नाम ‘असुर्यलोक’ है । परन्तु ये सब अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते । वेदमें ‘असु+र’ यह शब्द ‘प्राणशक्ति (असु+र) देनेवाला’ इस अर्थमें परमेश्वरके लिए आया है । वेदमें बहुतसे देवताओंके लिए ‘असुर’ शब्द इसी अर्थमें विशेषण रूपसे आया है । ‘असुरत्व’ शब्द (ऋग्वेदमें २८ बार, वाज० यजुर्वेदमें ३ बार, और अथर्ववेदमें २ बार) उपरोक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । ‘असुर्य’ शब्द वेदमें अन्य दूसरे किसी अर्थमें भी नहीं आया है और केवल ‘परमेश्वरसे मिलनेवाले (असु-र्य) प्राणोंके बल’ इसी एक अर्थमें आया है । प्राणके ऊपरके धौद्विक, मानसिक आदि बल इससे भिन्न हैं ।

इस अर्थको ठीक ठीक समझनेके लिए यहां थोड़ासा भिन्न रीतिसे विचार करना आवश्यक है । शरीरमें (असु) णणोंकी शक्तिको गति देनेवाला आत्मा है । उसके रहते हुए शरीरमें प्राण शक्ति कार्य करती रहती है और वह गया कि

[illegible]

ममसा नाम ते सोम्य मन्थेन तमसाऽभ्युदाः ।

अमुर्षं वक्ष्ये पश्चिदि वाटं द्रुप वे क्षीप रे जी पक्षः कषाक्षरसे व्याप्त है ।
इह नमः अमुर्षंक्षीपं वा वक्षः कषाक्षरसे व्याप्त देना विवेचन दिया है ।
यह हरी शिखर नि पञ्चाक्षरी प्रथमः शीमेनासे दृष्टे अमुर्षं क्षीप जी है, वक्षः
क्षीप इह क्षीपं व क्षीप । कषाक्षर वक्षः इह कषाक्षर वक्षः क्षीप है—

मनुष्य नाम ते वाङ्मा नारमयासा वृद्धादिना ।

तस्मै प्रेक्ष्यायि यच्छ्रुन्ति ये के आत्मविदो नराः ॥

‘अधुन कहते अनेक वे लोग हैं कि जो आत्मा के ऐक्य प्रमाणित होते हैं ।
 सभी प्रकार के भय की कल्पना बन्द होती है जो कोई आत्महत्या करे ।
 (यह अनेक हमने अपनी आत्म्या के समया है ।)

एसा जर्जीसिसे और सिरोमनक कपुर्देबालो ओकवा हम मिर्मान पर लपेटे हैं और इसके कला नसिया कि कपुर्दे बेम केसे राकुरोमि हो लपेटे हैं ठीक नैकी बेममि भी हो लपेटे हैं । राजन और एम बेमोदी कपुर्दे कपिरे कुच के, पर एमन बेमममसे ज्वाला वा और दूसरा जालममककले पूर्व वा, कर्जीसि

प्रथमकी अन्तःकरण-प्रवृत्ति स्वार्थी। भोगतृष्णासे अन्ध हुई थी और इसके विरुद्ध दूसरेकी शुद्धाचरण और अंगदुद्धारकी प्रेरणासे प्रकाशित हुई थी। अन्त-शक्ति भी ऐजिनकी तरह है। कह केवल गति देता है। ऐजिनकी शक्तिमें फाटनेके यत्र जैसे फिरते हैं वैसेही जोड़नेके यत्र भी फिरते हैं। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

धनका अपहार ।

प्रथम मंत्रमें 'मा गृधः, कस्य स्विद् धन' । (मं० १) ऐसा एक चरण है। उसका, ' (१) लोभ मन कर, (२) धन भला किसका है ? ' ऐसा अर्थ हम पहिल कर आए हैं। कुछ लोग इस मंत्रखण्डके ऐसे दो भाग न मानते हुए 'कस्य स्विद् धन मा गृधः ।' किसीके मा धनका लोभ मत रख ऐसा अर्थ करते हैं। यद्यपि यह अर्थ बुढ़ा नहीं है तथापि इस मंत्रमें जो 'स्विद्' शब्द है वह प्रतीति है। 'कया, भला' ऐसाही उसका अर्थ होता है। 'वस्य स्विद्' इसका 'वस्य चित्' ऐसा अर्थ नहीं होता। 'दूमे' किसीके भी धनपर लोभ मत रख' ऐसा अर्थ कई मानते हैं। दूसरेके धनका अपहार मत कर, दूसरेको छुट करके अपने उपभोग मत बढ़ा। यह एक उत्तमही उपदश है पर हमसे अर्थापत्तिद्वारा एक एसी ध्वनि निकलती है कि 'स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त की हुई जो धन संपत्ति हो और जो पत्रिक सगति अपने भागमें आई हुई हो, वह दूसरकी न होनेसे और केवल अपनी ही होनेसे उस सर्व संपत्तिका हम स्वयं चाहिए जैसा उपभोग करें, उसमें कोई भी आपत्ति नहीं। " इस दृष्टिसे यह अर्थ धर्मका दृष्टिमें थोड़ासा गंभीर प्रतीत होता है। धर्म ऐसा कहना है कि जो कुछ हमारा धन हो उसका भी लोभ न करते हुए उसका यज्ञ करना चाहिए अर्थात् 'उसका विनियोग सज्जनोंके सत्कर करनेमें, समान लोगोंकी भगति-करणमें और जिनमें न्यूनता है उनकी न्यूनता हटाकर पूर्णता करनेके लिए दान देनेमें व्यय करना चाहिए। ' यज्ञ अर्थात् 'भत्कार-सगति दानात्मक सत्कर्म'। अपने धनका इन कार्योंमें उपयोग करना चाहिए। अपने धनका ऐसा उपयोग करना ही वास्तविक उपभोग [त्यक्तन मुक्तीया । (मं० १)] है ऐसा माने,

(मं० ९) सत्य, (मं० १६) पूषा, ऋषि, यमः, सूर्यः, (मं० १८) अग्निः ।

इन शब्दोंपर विचार करनेपर 'स', तत्, ईश, स्वयम्भूः, कवि, सत्यः, पूषा, यम, अग्नि, आत्मा' इत्यादि सष नाम एकही परमात्माके हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है । एक सूक्तमें एक देवताकेही गुण दिखानेके लिए ये सष शब्द आए हैं । 'आत्मा' के अतिरिक्त इस सूक्तका अन्य कोई देखता आजतक किसीने भी नहीं माना है । अतः अग्नि आदि शब्द एक आत्माकेही वाचक इस सूक्तमें आए हैं यह निर्विवाद है । यही आशय निम्न ऋचा भी दर्शा रही है ।—

“इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्य स सुपर्णो गहत्मान् ।

एक सद्धिमा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातारश्चानमाहु ॥

(ऋ १।१६।४।६)

इस मंत्रमें एक आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गहत्मान्, यम, मातारिश्वा ये नाम हैं ऐसा कहा है । इस वेदमंत्रको देखनेसे अग्नि, यम आदि शब्द उस एक अद्वितीय स्वयम्भू परमात्माकेही वाचक हैं इस विषयमें शका नहीं रहेगी ।

ॐ शान्ति शान्तिः शान्तिः ॥

ईशोपनिषद्के मंत्रोंका तुलनात्मक विचार ।

केहते किन्हीं दृष्टान्तोंका विचार करना ही तो ध्यान साधन उत्तम विचारको सम्यक् स्थापनके नेदमश्रीका ही सम्यक् करना कहलत सम्यक्त्व है इन्को नेदको संजीवयन्त्र कहा होता है और वैदिक शिक्षाओं समग्रमें ही वही व्याख्या होती है। इसको ईशोपनिषद्के मंत्रोंके साथ सम्यक्त्व पर संजीवो तुलना कर करते हैं—

अथ ?

अथ मंत्रका सबसे प्रथमका कथन " ईशा वासामिहं सर्वं " यह है दृष्टान्त का है ॥ ईश इह सर्वमी व्याप है । " कथना ईश्वरता पर लभ वेता जाने योग्य है । जहां दृष्टान्त अद्वैतत्व सबसे प्रथम कहा है वह ईश सर्वके ऊपर व्यापक नहीं है किन्तु जहाँसे वह कथना ईश्वर हुआ है, दृष्टान्त विचार करनेके समय निम्नलिखित धर्म इसको सम्यक्त्व प्राप्त है—

यो विश्वस्य अमतो वेद्य ईशो । (भा. ५।१।१२)

तस्य श्रेष्ठ ईशित्व । (भा. ४।१२।१०)

त्वमोद्यीत्य ब्रह्म एक इत् । (भा. ५।१।११)

॥ यो सर्वस्य अमतरा इह वेद्य त्वमित्य करता है । तू ही एक दृष्टान्त ईश्वर है, एक सब का हूँ सबका तू ही एक स्थापित है । " इह अमतर इह ईश्वर के स्थापित होनेके निमित्तके नेदमें सम्यक् स्थापनी कहा है । सब समग्रका ही एक देव है । यह ईशोपनिषद्का नाम ही इन मंत्रोंमें है । सब देखिये कि यह निम्न अर्थका ईश्वर कहा है—

ईशानो अग्रतिष्ठता । (भा. १।५।८)

विश्वस्यह्यन व्यापकता । (भा. १।१।५)

अपि ई पूर्वका अत्येक इत्यन व्यापकता । (भा. ५।१।१२)

दूसरोंपर अधिकार चलानेके विषयकी वैदिक कल्पना अधिक मूल जाती है और वेदका आशय मनमें अधिक स्पष्टताके साथ आसकता है ।

दान ।

प्रथम मन्त्रमें दूसरा कथन 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह है । 'दानसे मोग कर ।' अर्थात् दूसरोंका हित करनेके पश्चात् अपने लिये भोग कर, अपने भोगके लिये दूसरोंके गलोंपर घुरा न चला । दूसरोंके लिए अपना यज्ञ कर । इस विषयमें अनेक बार पहिले भी कहा है । अनासक्ति रखकर व्यवहार करनेका भाव इस विधानमें है । दानके विषयमें ऋग्वेदमें एक सूक्त ही है और अन्य सूक्तोंमें अनेक बार दानकी प्रशंसा की है । प्रत्यक्ष परमेश्वरसहस्रों प्रकारके दान करता है ऐसे भी अनेक मन्त्र हैं, अर्थात् उसका अनुकरण करनेकी इच्छा हो गई तो भी दान करना चाहिए । ईश्वरके गुणोंमें त्याग और दान एक विशेष गुण है, इस विषयमें वेदके आदेश स्पष्ट हैं । यहा उदाहरणके लिये दान सूक्तके एक दो मन्त्र देते हैं—

उतो रयि पृणतो नोपदस्यत्युताऽपृणन्मर्दिनार न विन्दते ॥१॥
स इन्द्रो जे। यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।

अरमस्स भवति यामहना उतापरीपु कृणुने सखायम् ॥ २ ॥

न स सखा यो न ददाति सख्य सच।भुवे सचमानाय पितृ ।

अप स्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरण चिदिच्छेत् ॥४॥

पृणयिदिन्नाधमानाय तव्यान्द्राधीयांसमनुपश्येत् पन्थाम् ।

ओ हि वतस्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त राय ॥ ५ ॥

मोक्षमन्न विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

(ऋ० १०।११७)

“दान देनेवालेका धन निश्चयसे वम नहीं होता । और जो (अपृणन्) दान न देनेवाला होता है उसको सुख देनेवाला कोई नहीं मिलता ॥ १॥

[illegible]

इस धृष्टके दमयन्त महारथ वर्णन किया है। इससे अनेक राजा महारथ का ज्ञान अर्जन है। धृष्टके वक्तु वक्तु कहता है कि दमयन्त व दमयन्त और अनेक विधि ही धीरे धीरे करनेवाला नहीं होता है। इस धृष्टके वक्तुके विधि ही ईशानविषयके धर्मों का ज्ञान अच्छी तरह करके धीरे धीरे किया गया है।

अनुष्णको अन्तराक्ष राख नाथ अनुष्णको कार्यक्षेत्रको सम्पूर्णको पञ्चांग है ।
 दान न व मन्त्रों न राहा हो अनुष्णका राक्षस नथ नाथ है । अनुष्णका देव अन्त्रोंको
 निम्ने अनुष्णको दाननाथ अन्त्रों अन्तर वराना पारिजे । आये द्वितीय मन्त्रों
 कर्मक्षेत्र अन्त्रोंको होना है अन्त्रों निम्न अन्तराक्षरणी अन्तराक्ष ऐन्द्रो अन्त्रों
 अन्त्रों दान मन्त्रों राक्षों अन्त्रों अन्त्रों अन्त्रों हो है । (मा ध्या) अन्त्र न

कर, (कस्य स्विद्धर्न) किसका भला धन है ? ये वाक्य भी मनुष्यका लोभ धनपर न रहे, मनुष्य दान देनेवाला बने, इस भावके ही सूचक है । इस प्रकार प्रथम मंत्र ही अन्य मंत्रोंके साथ तुलना करनेके पश्चात् द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं—

मंत्र २

द्वितीय मंत्रका उपदेश यह है कि “ मनुष्य कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे, उन्नतिका यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं । मनुष्यको सत्कर्मका लेश नहीं लगता । ” मनुष्यको कर्म करनेके लिये क्यों उपदेश किया है ? इसके कारणका विचार करनेसे पता लगता है कि कर्म करना इसका स्वभाव ही है । मनुष्य प्रयत्न करे या न करे, इच्छासे करे अथवा अनिच्छासे करे, इससे कर्म होनेही है । इसी लिये इसको सत्कर्म करनेका उपदेश किया है । कर्म करना इसका स्वभावही होनेके कारण इसके प्रयत्नसे शुभ कर्मही हों और अशुभ कर्म न हों, इस बातके लिये प्रयत्न होने चाहिये । अन्यथा अशुभ कर्म होंगे और अवनति होगी । मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका न होता, तो उसको यह उपदेश देनेकी आवश्यकताही न होती । जिस प्रकार एक यन्त्र गति उत्पन्न कर रहा है और वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है । तो उसके स्वामीको उचित है कि वह उसकी गतिको उपयोग शुभ कार्यमेंही करनेका यत्न करे । इसी प्रकार यहा है । मनुष्य, आत्मा, बुद्धि, मन, वाणी, अन्य इंद्रियाँ और शरीर आदि साधनोंसे प्रातिक्षण कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है और कर्मदाब नहीं रहता । ऐसी अवस्थामें इसकी कर्मशक्तिसे सत्कर्मही हों और कुकर्म न हों, इस विषयमें सावधानीसे प्रयत्न होने चाहिये । इसी कार्यके लिये संपूर्ण यजुर्वेदका उपदेश है ।

इसी इस उपनिषद्में मनुष्यका नाम “ क्रतु ” है । क्रतुका अर्थ कर्म है । मनुष्य स्वयं कर्मरूप है, यह बात इस शब्दने बता दी है । इसकी आयु १०० वर्षकी है, और प्रत्येक वर्ष एक एक क्रतुके लिये है, इस प्रकार मनुष्य अपनी

हैं अथुमें ? कहु कर कछा है, इगिमे इही मनुष्यमे" हास+कनु" करते हैं । बी बर लकर्म कमेमे म्वाहीत कलही उच कलना यहा यही है । कनुहा कोई बी भाव कुछमे धरि बर पसी होमा चाहिने नह लुका यहा निबन्धि है । १७ निबन्धे निम्नलिखित वेदार्थ देखियेहोम है—

वा प्रथमा वसन्तस्याय आता । (अथर्व ७१४१६)

देवस्य स्तुतिस्तु सवे कस्य कृण्वन्तु मातुषा ॥ (अ ६१२११)

प्रतिष्ठा नह कर्म करेके निवे ही हुआ है । सर्वदेवता कवन होते ही कन मनुष्य कर्म करेका मान्य करे । इसाथ सामान्य अकह मनुष्यमे कर्मकी प्रेरणा करेके निवे ही हो है । इसी प्रकार अपने उच कपी और कवन-कीके वराम कलकर्मकी कमायेकी प्रतीक्षा निम्नलिखित संतमे है कह यहा देखिये—

मर्ह कर्त्तव्ये हातुयाम बवा मग्ने पक्षेमासमिर्द्युतया ।

किरैरप्यनुपुर्बासकान्निभ्यजमाह देवहित यन्नायुः ॥

(वा व २५११)

"इय कर्त्तव्ये प्रथम कवन कुम्मे कर्त्तव्ये वराम पक्षय देखिये, और कसक हातु रीणी कसक लकर जगीके कर्त्तव्य दित करे । कर्त्तव्य प्रथम : अस्वराके छन कर्म हो करिये और कमी अहुम कर्म नहीं करिये । नह वेदिह प्रतिष्ठा कर्मका निष्ठा करेके ममक ममक करियेहोम है । इस प्रतिष्ठाका वाक्य होमेके मनुष्यका छवार नि-छमेह होमा इसमे सर्वह यही है । कर्त्तव्ये इहमे प्रलेक कवनके वराम छन कर्म करेका यह संकल्प कवन किया है ।

मंत्र ३

हीमे संतमे "कन्यज्जमे म्वाह अथुमें कीकी वासककपी कीय गाते हैं" रीका यहा है । यहा अथुर्न कीका निष्ठा करेके कवन निम्नलिखित कर्त्तव्य-कर्त्तव्य कमे प्रथम देखिये—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽवुधो जनाः ॥

(बृह० उ० ४।४।१)

“जहां आनन्द नहीं है ऐसे लोग अन्धतमसे व्याप्त हैं उन लोगोंमें अविद्वान् और अज्ञानी लोग जाते हैं ।” इस उपनिषद्चनमें “असुर्या नाम ” के स्थानपर “अनन्दा नाम ” शब्द है और “आत्महनो जना ” के स्थान पर “अविद्वांसोऽवुधो जनाः ” ये शब्द हैं । इन शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ‘आत्मघातकी लोग वे ही हैं कि जो अविद्वान् और अज्ञानी हैं । और ‘असुर्य’ लोक वे हैं कि जो ‘आनन्दरहित हैं’ और जहां केवल कष्ट और दुःख है । उपनिषद्चनोकी तुलना करनेसे इस प्रकार अर्थ खुल जाता है । अब इस वेद मंत्रोंके प्रमाणसे ‘असुर्य’ शब्दका अर्थ निश्चित करते हैं । असुर्य शब्दके विषयमें इससे पूर्व मंत्र की टिप्पणीमें और उसके विवरणके प्रसंगमें बहुत कुछ लिखा गया है, अब यहां वेदमंत्रोंमें ‘असुर और असुर्य’ ये शब्द किं व अर्थ में आये हैं इसका विचार करना है । इसलिए ऋग्वेदक एक दो मंत्र देखिये—

हिरण्यस्तो असुरः सुनीथः सुमृळोकः स्वघा यात्वर्वाह् ।

अपसेधन्क्षसो यातुधानानस्थाह्वः प्रतिदोष गृणानः ॥

(ऋ० १।३५।१०)

“सुवर्णके आभूषण हाथमें धारण करनेवाला, उत्तम नेता, उत्तम स्तुति करने-योग्य, आत्मिक बलसे युक्त (असुर) जीवन देनेवाला देव (अवाह यातु) हमारे पास आ जावे (रक्षस अपसेधन) राक्षसोंका नाश करनेवाला और यातुधानोंको दूर करनेवाला प्रतिदिन स्तुतिको ग्रहण करनेवाला यह देव है । ” इस मंत्रमें राक्षसोंका नाश करनेवाला देव ‘असुर’ शब्दसे यहां वर्णित हुआ है । इससे सिद्ध है कि यह असुर शब्द परमेश्वरका यहां वाचक है । तथा और देखिये—

त्व विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः ॥

(ऋ० २।२७।१०)

“हे अमुर वरुण ! जो देव हैं और जो वर्ग हैं सब जगत् तु राजा है । इस मन्त्रमें देवोंके जोड़ देवरा नाम अमुर कहा है । इस मन्त्र अमुर वरुण वरुणमात्र नामक है क्योंकि यही मानवधिया देवराका है यही ही वीर्य देता है । इस अमुर देवरा जगत् परमात्मा जो कामर्ष है । यह अमुर है । सब इस अमुरके प्रयोग मन्त्रोंमें देखिये —

धारयन्त धारिस्वास्त्यः अयत्स्वा देवा विभ्यस्य मुचनस्य घोषा ।
हीर्घाभियो रक्षमाणा अमुर्यसूताचामक्षयमाणा ज्ञयानि ॥

(ऋ ११५५)

“जब मुचनके राजा और वरुणमें एकत्रमें जायिस्व देव इस (अमुर) मन्त्रोंके बलसे रक्षन करते हुए जायन करते हैं । इस मन्त्रमें परमात्मके इस अमुर वरुण नाम जगत्का धारिस्वदेव करते हैं, ऐसा कहा है । और देखिये —

ईशानात्स्व मुचनस्य मूरेर्न वा क घोषसूताचाममुर्यम् ।

(ऋ ११२१२५)

“यह मुचनका स्वामी ईशान है इसमें (अमुर) जायि इन्को कोई भी क्षम नहीं करेगा क्योंकि यह परमात्मा विभक्त होकर अपने अपने जगत् जगत् देता है और वह इस मन्त्रके बलसे वीर्य जीवन प्रदान करता है । अब सब जगत्का देव है—

अहं राजा वरुणो माही तान्मसूताभिः प्रथमा धारयन्त ।

(ऋ ११५५१)

“मैं राजा वरुण हूँ मेरे मित्रे ही मे अमुर सब जगत् कीके जायन किये जायेंगे । जगत् मे सब सब जगत्का ही हैं और वरुण वरुण देव जायन करते हैं और वह सब जगत् जगत्का हीते हैं । तथा और देखिये—

समा धारामामयो विधाया पश्येत् धारयन्ता अमुर्यम् ॥

(ऋ ११५५१)

“यद् ईश्वर अण धन अपना बल सबको देता है और सूर्यादि देवोंके अन्दर अपना बल धारण करता है ।” इस मंत्रमें कहा है कि परमेश्वर अपना बल संपूर्ण देवोंमें स्थापन करता है, अर्थात् इस बलसे सब देव बलवान् होते हुए अपना कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं । सूर्यके अन्दर वही बल प्रकाशके रूपसे दिताई देता है । वायुमें गति और अग्निमें दाहकता आदि गुण उसीके हैं, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंमें अन्यान्य शक्तियाँ उसीके कारण दिताई देती हैं । इसी कारण कहा है कि—

मद्वा देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरशम्यम् ।

(ऋ० ८।१०१।१०)

“संपूर्ण देवोंका यह मुखिया है, इसका कारण यह है कि इसमें (असुर्यः) जीवन देनेकी शक्ति है और इसमें (मद्वा) मदस्य भी विद्यमान है और इसके अन्दर न दबनेवाला व्यापक तेज है ।” इसमें भी संपूर्ण देवोंका मुखिया यह असुर्य शक्तिवाला परमेश्वर है ऐसा स्पष्ट कहा है । अर्थात् परमेश्वरकी विशाल शक्ति इस असुर्य शक्तिके कारणहा सबके ऊपर हुई है । अन्य देवोंमें असुर्य शक्ति नहीं है और केवल इस परमेश्वरमें ही वह शक्ति है, इस कारण परमेश्वरका प्रभुत्व सबके ऊपर हुआ है । ये असुर्य बल कितने प्रकारके हैं इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र अवश्य देखनेयोग्य है—

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाम्यानि महिषस्य सन्ति ।

तमग तानि विश्वानि वित्ते योभ कमाणि मघवञ्चकथं ॥

(ऋ० १०।५१।४)

“तेरे न दबनेवाले चार असुर्य बल हैं जिसमें विविध कर्म तू करता है ॥” इस ईश्वरकी यह अभ्य शक्ति है इसालय ही इस जगत्के अन्दर चलनेवाले अनन्त कर्म वह कर सकता है । और इसी कारण वह सबमें श्रेष्ठ है ।

‘असुर्य’ शब्द जिन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुआ है ऐसे मंत्र अनेक हैं उनमेंसे कुछ मंत्र यहां दिये हैं । इनका देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि ‘असुर्य’

सम्पदा सर्वे शीघ्रं शक्ति देनेवाले ईश्वरका अग्रगण्य वक्ता ऐसा है । वेदमें इस अनुब्रह्मका इत्यादि सर्वे नहीं है । ईशानमित्रादि इस तृतीय अर्थमें जो अनुब्रह्मका 'कम्प' है उसमें वह सर्व कोष्टित किया जान तो जीवनकायके कुछ केन्द्र ऐसा सर्व सब सम्पदा देनेवा । जीवनशक्तिसे कुछ तो सदाही प्राप्त है, कम प्राप्ति तो है ही विशेषतः सब अनुब्रह्म इस जीवनवाक्यमें कुछ है । आनन्दस्य विचार इस बात कोट देते हैं । और केवल अनुब्रह्म ही विचार करते हैं । कम अनुब्रह्म यदि इस अनुब्रह्म शक्तिसे कुछ है तो उसमें जैसे और धुरे सभी जीवन कायमें वह स्पष्टही है । विचार अथवा वह अनुब्रह्म का सज्जनमें है सभी प्रकार दुर्बलमें भी है । वह परब्रह्म पश्यत आदर्शमें शक्ति होने परन्तु इत्यादि आदर्श इसमें नहीं है क्योंकि यह (अनुब्रह्म) जमीन का सब जगत्सर्वोंके शरीरोंमें सर्व का रहा है सभी प्रकार दुर्बलमें शरीरोंमें भी सर्व का रहा है । क्या सज्जनमेंके शरीरोंमें ही जगत्सर्व है और दुर्बलमेंके शरीरोंमें नहीं ? ऐसा कोई नहीं मन्त्र लक्ष्य । आत्मसर्वमें अग्रगण्य जगत्सर्व है । यह आत्मसर्व आत्मसर्व ही शक्ति है 'अनु' कम्प आत्मवाक्य है । 'अनु' कम्प आत्मसर्व के अग्रगण्य का वाक्य, और अनुब्रह्म कम्प सज्जन के अग्रगण्य वाक्य है । इस स्पष्ट निर्दिष्ट इत्यादि जगत्सर्व अनुब्रह्म शक्ति प्राप्तिवाक्य है । यह शक्ति सज्जन और दुर्बलमें समस्तत्वा प्राप्त है । दोनों स्थानोंपर वह सर्व का रहा है ।

आनेवाले चर्ची केरामि 'अनुब्रह्म' कम्पस्य सभी सर्व है और इत्यादि कोई सर्व नहीं है । ऐसी आत्मसर्व सज्जनके ईशानमित्रादि (अ ४) में आने हुए अनुब्रह्म कम्पका विचार सर्व मान्यता करीव है । वेदमें किसी एक स्थान पर आने अनुब्रह्म कम्पस्य भी मात्र सर्व होता तो ईश्वरमित्रादि अनुब्रह्म कम्पस्य अथ भी विचार मान्यता संभव होगा परंतु वरुडे अनुब्रह्म कम्पस्य के अर्थ मात्र हमारे देव है । उसमें इत्यादि भी सर्व इसने विचार नहीं है । इनमित्रे ईशानमित्रादि इस अनुब्रह्म कम्पस्य सर्व आत्मसर्व जीवनसर्व ऐसा ही मान्यता करीव है ।

यह अर्थ लेनेपर भी घुरे और भले लोगों की व्यवस्था उत्तम प्रकार हो जाती है, 'अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोक' और "आत्मप्रकाशसे प्रकाशित असुर्य लोक" ऐसे दो भेद, इसके माननेसे इस शब्दका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस विषयमें अधिक विवेचन पूर्व स्थानमें लिखा ही है। इसलिये अब इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

मंत्र ४

"वह आत्मा एक, अद्वितीय, सबमें पूर्व, स्थिर, अत्यंत वेगवान्, ज्ञानी और मनसे भी वेगवान् है। वह गतिवाले अन्य पदार्थोंके भी आगे पहुंचता है और उसीके आधारसे माताके गर्भमें आनेवाला जीव कर्मोंका धारण करता है।"

इस मंत्रमें आत्माके गुण वर्णन किये हैं वे सब प्रसिद्ध हैं और उपनिषदादि सब ग्रंथोंमें वे आगये हैं, इसलिये उनके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि इस आत्माके एक होनेके विषयमें यहां कुछ लिखना आवश्यक है—

प्रथम मंत्रमें "ईश" शब्द एकवचनान्त है, इसलिये ईश एकही है यह बात सिद्ध होती है, तथापि अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां इस मंत्रमें "एक" शब्द रखकर उसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किया है, इसके साथ निम्नलिखित मंत्र देखिये—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥

न पञ्चमा न षष्ठः सप्तमा नाप्युच्यते ॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥

तामिद निगत सह स एव एक एकवृदेक एव ॥

(अथर्व० १३।४।१६-१८, २०)

"यह ईश्वर दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, सातवा, आठवा नववा, दसवा नहीं कहा जा सकता, वह बड़ा भारी बलशाली है, वह एकही है, एक ही सबत्र घेरनेवाला, केवल एकही है।"

अवश्य मिलता है । वेदने यह बड़ी मारी महत्त्वकी बात यहाँ कही है । इसको जानकर पाठक उत्तम कर्म करें और स्मरण रखें कि अपना किया हुआ कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता ।

इस मन्त्रमें 'मातरि-श्वा' शब्द विशेष महत्त्वका है इसलिये इस शब्दका आशय प्रकट करनेवाले कुछ मन्त्र यहाँ देते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यं स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एक सद्धिप्रा बहुधा वरन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥

(ऋ० १।१६।४६, अ० १।१५।२८)

“एकही आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं ।” इनमें “सुपर्ण” शब्द है जो जीवात्मा परमात्माका वाचक प्रसिद्ध है । “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया” इस मन्त्रमें सुपर्ण शब्द जीवात्माका भी वाचक है । इन्द्र शब्द परमात्माका वाचक है इसमें किसीको सदेह नहीं है । यह इन्द्र शब्द जीवात्माका भी वाचक है और इसीसे ‘इन्द्रिय’ शब्द ‘इन्द्रशक्तिका’ वाचक बनता है । यदि इन्द्रियमें इन्द्रकी शक्ति है तो नि सदेह इन्द्रियके पीछे इन्द्र स्वयं है और यह इन्द्र जीवात्माही है । इसी प्रकार ‘मातरिश्वा’ शब्द भी जीवात्माका वाचक है । जिसके वाचक ‘सुपर्ण, गरुत्मान्, इन्द्र, ये शब्द हैं, उसीका वाचक ‘मातरिश्वा’ शब्द है यह ऊपर दिये हुए मन्त्रसे सिद्ध होता है, यह बात इस मन्त्रका विचार करनेवालेको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । पाठक यहाँ ‘मातरिश्वा’ शब्द जीवात्माका वाचक होनेका अनुमान करें । और देखिए—

प्राणमाहुर्मातरिश्वान् वातो ह प्राण उच्यते ॥

(अथर्व० १।१६।२५)

“प्राणको मातरिश्वा कहते हैं और इस वायुको प्राण भी कहते हैं ।” इस मन्त्रमें प्राण ही नाम मातरिश्वा कहा है । प्राण भी जीवात्माकी सहाचरिणी जीवन-शक्ति है । इन दोनोंक विषयका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें देखिए—

मातारिण्या शुद्धा सन्तं हृष्यन्तार्हं समीपे । (अ. १/५१)

यह मातृरिक्ता बुद्धि के अन्तर रहनेवाला मजबूत भाति ही है। " हमारी ज़ुबानें अजीब बुद्धि में अथवा हृदय के अन्तर रहनेवाला भाति कदां आरम्भ होती है। यह संशय भी इस मातृरिक्ता अन्तर का अर्थ अतीतम्य है कदां भाव निरुद्ध करता है। और देखिए—

ब्रह्मस्य तन्मुं मयसा मिमासाः सर्वो दिवाः पचते मातरिणा ॥
(अर्थ १३ ३/१९)

“उसके समुच्चो यन्त्रो यान्त्रिकस्य यन्त्रोत्पत्त्य एव विद्यायां यो पवित्र करण है वा यन्त्रोत्पत्ति है।” यही उसके समुच्चो कार्य पर्यायवाची है जिससे समुच्चो भी कहते हैं। इस समुच्चो यन्त्रोत्पत्ति के अन्तर्गत सब विद्यायां यो पवित्र करण है और स्वयं पवित्र होकर सब विद्यायां यो भी पवित्र करण है। इसके विपरीत और इस सब विद्यायां—

वभूतपादुष्यते सर्वं मासुरो नराणांसो मयसि पदिजायते ।

मातृशिक्षा पर्याप्तता मातृशिक्षा पाठ्यस्य सार्थकता समस्तस्य शिक्षा ॥
(पृ. १११११)

“(लघु-म-वाद्) शरीरयो न विरमेवत्या (मत्तरि क्वा) मातृके गर्भे
रहन्त्याप्य शीतल्य ही (गर्भे उपपत्ते) गर्भ ई देवा क्वा क्वा है । नही
(लघु-र) लघु नामक शीतल्यकहि देवैवत्या है क्वा शम्य (म-वाकंछा)
क्वा की-क इपीपी प्रकथा करते हैं (मत् विजायते) क्वा नह क्वाय होय दे ।”

इस प्रसंगपर मैं इस कठोरताका क्या समझू न-पता, क्या है। शरीरकी न निष्ठानेवाला यह इच्छा नहीं है। कसबक शरीर में यह चरित्र है तबतक यह कठोर निरता नहीं, और जब यह इस चरित्रको छोड़ देता है तब यह शरीर देना फिर जाता है कि फिर कुछ शरीर चरित्र तब जब बर्तन देकरके मायिका चरित्र जो बर्तनका बावत रूप प्रकट होता है। इनके साथ नहीं बहुत है परंतु ईश्वरविषयमें मायारिक्त वह मायके बर्तन विस्तारकीप्रकार कावत

प्रतीत होता है । पाठक इन मन्त्रोंका विचार इस मन्त्रके साथ करें और आत्माके गुण जानकर उनसे सूचित होनेवाला आत्मोन्नतिका मार्ग आक्रमण करनेका यत्न करें ।

मन्त्र ५ से ७

“आत्मा समीप और दूर, अन्दर और बाहर सर्वत्र है । (५) जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह किसीका तिरस्कार नहीं करता । (६) जिस समय आत्माही सब भूत प्रतीत होने लगा उस समय सर्वत्र एकत्व देखनेवालेको शोक और मोह नहीं होते । (७)” यह इन तीन मन्त्रोंका भाव है । इसमें आत्मा शब्द महत्त्वपूर्ण है । इस आत्माके गुणोंका विचार वैदिक मन्त्रोंसे अब करते हैं—

देवो न यः सविता सत्यमन्मा कृत्वा निपाति वृज्जनानि विश्वा ।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शवो दिधिपाय्योऽभूत् ॥

(ऋ० १।७३।२)

“जो सत्यविचारवाला सविता देव है वह अपनी कर्मशक्तिद्वारा सपूर्ण दुष्कृत्योंसे रक्षा करता है । वह अत्यन्त प्रशसनीय सत्यानिष्ठ देव आत्माके समान ही सेवनीय है ।” इस मन्त्रमें कहा है कि जिस प्रकार आत्मा सेवनीय है, उसी प्रकार सविता देव भी है । अर्थात् आत्माकी परिचर्या अवश्यही करनी चाहिये । कई लोग बाह्य पदार्थोंकी सेवा करते हैं, कई अपने शरीरकी, और कई लोग अपने इन्द्रियोंकी सेवामें रमते हैं । कई अपनी बुद्धिकी श्रद्धा करते हैं और कई अपने मनकी तर्कना शक्ति बढाते हैं । इतने सब प्रयत्न करते हुए भी लोग अपने आत्माकी उत्तमी सेवा नहीं करते, कि जितनी आत्मासे भिन्न अन्व पदार्थोंकी श्रिया करते हैं । यह बड़ा भारी आश्चर्य है । इसलिये इस मन्त्रमें सूचित किया है कि आत्माही प्रथम उपास्य और सेवनीय अथवा समजनीय है । इसलिये कहा है—

आत्मा यज्ञस्य पूज्यः । (ऋ० १।२।१०)

“आत्माही यज्ञमें सबसे पूर्व उपास्य है ।” इसका अर्थ यह है कि आत्माके

शिष्टाचार का अर्थ विचार मनुष्यकी वृत्ति प्रथम करवा चाहिए, और उसके
 निच कर्म फलार्थ सुचार करनेका विचार उसके पश्चात् करवा चाहिये । प्रायः
 लोग प्रायः वृत्ति के सुचारक कर्म करते हैं पर आत्मनुकारण कर्म
 निचार करते हैं । इस कारण मनुष्यकी वृत्ति शिष्टनी होती चाहिये वृत्ति की
 होती । प्रायः मनुष्य विचार करिये तो वृत्ति के अपने सुचार के कर्म में बहुत शोक
 प्राप्त हो सकता है । यह आत्म कर्म है वृत्ति की आत्म है इस निचमें निच-
 शिष्टाचार संज्ञ देविये—

आत्मा इषानां मुचयस्य मयो पयभ्यां करति देव एषः।

घोषा इदस्य अस्मिन्नेव रूपे ॥ (पृ. १, १९६४)

[illegible]

माऽहं प्रायेण माऽऽत्मना मा प्रजया प्रतियुक्त विपदिभिः ।

(अध्याय ३।१५।६)

“ मैं आत्मा, प्राण और प्रजा इन शक्तियोंसे पृथक् न होऊँ । ” अर्थात् मेरे पास ये शक्तियाँ उत्तम अवस्थामें रहें और मेरी उन्नातिकी साधनामें इनसे सहायता प्राप्त हो । कभी ऐसा न हो कि अल्प आयुमें प्राण चला जावे, प्रजा नष्ट हो जावे और आत्मा भी हीन बल होकर गिर जावे । कभी इस प्रकारकी संभावना उत्पन्न न हो मनुष्यको प्रयत्न करके आत्मिक, प्राणसम्बन्धी और सुप्रजा-निर्माण विषयक बल अपने अंदर स्थिर और स्वाधीन करना चाहिये । केवल बल बढनेसे कार्य नहीं होगा परंतु उस बलपर अपना प्रभुत्व होना चाहिये । इस प्रकार अपनी शक्ति बढत बढते सर्वात्मभाव की स्थिति प्राप्त होती है जिसका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें पाठक देखें —

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।

अस्तुतां नामाहमयमस्मि स आत्मान नि दधे

द्यावापृथिवीभ्यां गोपीधाय ॥

(अथर्व० ५।९।७)

“ सूर्य मेरा चक्षु है, वायु मेरा प्राण है, पृथिवी मेरा शरीर है और अन्तरिक्ष मेरा आत्मा है । मैं (अस्तुत) कभी न मरनेवाला हूँ । ऐसा मैं अपने आपको द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये समर्पित करता हूँ । ” परमात्मामें अपने आत्माको लीन करनेसे अपने अन्दर सर्वात्मभाव आ जाता है, इस अवस्थामें यह ज्ञानी अपने आत्माको सर्वात्मरूप देखता है । उस समय वह कहता है कि मेरी आत्मा सूर्य है और पृथ्वी शरीर है तथा वायु प्राण है । अपने प्राकृतिक अनुभवका दशामें भी यह सत्य है । क्योंकि सूर्यके बिना हमारे नेत्र क्या कर सकते हैं ? हमारे नेत्र देखते हैं तो वे सूर्यकी सहायतासे ही देखते हैं । इसी प्रकार हमारा शरीर भी पार्थिव ही है । यह तो स्थूल अर्थमें सत्यही है । परंतु यहा सर्व-त्मभावकी दृष्टिसे कहा है । सर्वात्मभावकी दृष्टिसे ही जब जीवात्मा परमात्मामें लीन होता है तब वह साधक अपने आपको अपने शरीरसे भिन्न और महान् सूत्रात्मासे संयुक्त अनुभव करता है । इस समय इसका रक्षण इसके मातापिता नहीं करते प्रत्युत जगत्के मातापिता द्यावापृथिवी उसके रक्षक बनते हैं । वह भी अपने आपको उनके सम्मुख रख देता है और उनसे सुरक्षित

“ परमात्मा आसक्त, सदातृप्त, धीर, अमर, स्वयम्भू, सर्वत्र व्याप्त, अजर, युवा और वीर है । उसको जाननेसे मृत्युका भय नहीं होता । ” यह मृत्युके डरको हटानेका उपाय है । सर्वात्मभावसे युक्त बननेका अर्थ इन गुणोंसे युक्त बनना है । स्वयं तृप्त, सतुष्ट, निष्काम, निर्भय और तरुण जैसे उत्साही बनने और अन्यान्य गुण अपने आत्मामें बढानेसे वह निर्भय शक्ति अपनेमें स्थिर हो जाती है । एक बार वह भाव अपनेमें बढ गया तो फिर मृत्युका भय उसके नहीं रहता ।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका मनन पाठक ईशोपनिषद्के ५ से ७ तकके तीनों मन्त्रोंके साथ करें और आत्मोन्नातेके वैदिक मार्गको जानकर स्वयं अपने प्रयत्नसे अपनी उन्नति करें ।

ईशोपनिषद्के शेष मन्त्रोंका भाव स्पष्ट है और उस कारण अन्य मन्त्रोंसे तुलना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

यहां ईशोपनिषद्के मन्त्रोंका तुलनात्मक विचार समाप्त हुआ ।

ईशोपनिषद् का रूपान्तर श्रीमन्नागवतर्मे

ईशोप
लोचन

- १ अन्त्यावाप्तमिदं विद्वं परित्यज्य जगत्प्रां जगत् ।
तेन त्यक्त्य मुक्षीया मा शुचः कस्य स्विङ्गनम् ॥
(श्री भाष्यत ८।१।१)
- २ सर्वभूतेषु वा पश्येद्भूतब्रह्मावमात्मनः ।
भूतानि मयवत्यात्मन्यय भागवतोत्तमः ॥
(श्री भाष्यत १।१।१।२५)
- ३ आत्मने सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थिष्य ।
कृपयन्त्यसर्वभूतानि मयवर्थापि आत्मनि ॥
(श्री भाष्यत १।१।१।३६)
- ४ यदा तु सर्वभूतेषु ब्राह्मण्यमिदं स्थितम् ।
प्रतिवसति सा लोकः ब्रह्मण्यहोम कर्मसम् ॥
(श्री भाष्यत १।१।१।४१)

सहामारसर्मे

- ५ त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु वासि मे ।
शुचार्ता हि यथावानामेकमं त्वयि तिसृषि च
(श्री भाष्यत १।१।१।४६)

[इस प्रकार इष्टिपत्र और पुतामोहि प्रयोग ईशोपनिषद् का रूपान्तर है ।
विद्वत् पण्डितों की कविता है कि वे इसकी अविष्ट और चरे और रूपान्तरके
श्रीमन्नागवतर्मे का रूपान्तर ईशोपनिषद् के साथ करें और कविता को
आत करें ।]

कुरान शरीफ का एक मन्त्र

‘अग्ने नय’ यह मन्त्र ईशोपनिषद्में १८ वाँ है। उसके अर्थके समान अर्थवाला एक ‘सुरा’ (सूरतुल-फातहा) कुराण शरीफमें है। तुलना के लिये उसके मूल वाक्य, उपनिषद्के वाक्य और उनका अर्थ नीचे देते हैं—

वेद-मंत्र	कुरानका वाक्य	अर्थ
ॐ	बिस्मिल्लाह इर्रहमानिर्रहीम्	ईश्वरके नामसे प्रारम्भ जो दयालु और दयामय है।
देव	अल्हम्दु लिब्बाहि रब्बिल् आलमीन्	ईश्वरके लिये स्तुति है। वह जगत् का कर्ता है।
विश्वानि वयुनानि विद्वान्	मालिकि यउ मिद्दीन्	सब कर्मोंको जाननेवाला अतः न्यायके दिनका स्वामी।
भूयिष्ठा ते नम उर्कि विधेम।	इय्याका नाबुदो व इय्याका नस्तईन्।	हम उसको नमन करते और उसीकी सहायता चाहते हैं।
अस्मान् सुपथा नय।	इहिदि नस्सिरातल् सुस्सकीन्	हमें सुमार्गसे ले चल।
राये ,, ,, ,,	सिरातल् जीना अनम्ता अलयहिम्	जिनपर तुम्हारी कृपा है उनके मार्गसे हमें ले चल।
एन युयोधि	वगैरिल्मग्जूबि अलयहिम्	उनके मार्गसे नहीं कि जिन पर तुम्हारा क्रोध होता है।
जुहुराण ,,	वलज्ज्वालीन्	और न उनका मार्ग कि जो तेरे मार्गसे जाते हैं।
ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः	आमीन्	त्रिभुवनोंके प्रभुकी कृपा हो।

इस तरह इस वेदमन्त्रका भाव और कुराणके इस वचनका भाव एकही है। ‘अग्ने नय’ यह मन्त्र ऋग्वेद आदि संहिताओंमें है—ऋ० १।१८९।१, वा० य० ३।३६, जा० ४३, ४०।१६, काण्व ४०।१८, तै० स० १।१।१।१४।३, ४।४३।१, तै० ब्रा० २।८।२।३; तै० आ० १।८।८, श० ब्रा० १४।८।३।१ अन्यान्य वैदिक वाक्यमें भी है। ऐसा यह मन्त्र कुरान शरीफतक भावार्थ-रूपसे पहुँचा है। यह निःसंदेह विचार करनेयोग्य बात है।



ईश-उपनिषद्

[अध्यात्म-सत्त्वज्ञानपर अभिहित राज्यशासन]

प्रास्ताविक

अध्यात्म-सिद्धान्तोंपर अभिहित राज्यशासन ।

वीरक समर्थके आर्योंके प्राचा सभी व्यवहार आध्यात्मिक भूमिपर कबसे वे मैत्र राज्यवर्षण भी इसी एक भूमिपर कबता था । वैदिक सौदर्य, आत्म और आत्मिक प्रत्येक तथा उपनिषदोंमें भी अध्यात्म-वर्षण है वह व्यक्तिमें अध्यात्म समाज का राज्य अनिमित्त और विषयमें अधिदैवत नामसे प्रकट है । आत्म-आत्मिक उपनिषद् आदि प्रयोगोंमें बारम्बार “अथाध्यात्मं अध्याधिभूतं अध्याधिदैवतं” ऐसे वीरकोंके बीच एक ही सत्त्वतामसके व्याख्या इन तीनों क्षेत्रोंमें केली होती है वह विषय हीन है । इन वचनोंके वेदमन्त्रों आध्यात्मिक भूमिपर राज्यकरण केला अभिहित है इसका बीच हीं बचता है ।

अध्यात्म-क्षेत्रकी सर्वोच्च आत्मा-सुखि-मन्त्र इति-सर्वीर एक हीनिय है अधिभूतकी सर्वोच्च मन्त्र-समाज-राष्ट्रमात्र-अर्थात् प्राणि समष्टिके सर्वोच्च है । इसीके अध्यात्म-निर्माण राह-संरक्षण धारणी राज्यकरण किये होता है । इसी राह अधिदैवतकी सर्वोच्च स्तर पर समष्टि अर्थात् सर्वोच्च निधि है । इससे स्पष्ट होता कि अधिभूत विचार ही प्रधान तथा राष्ट्रका विचार है । इसीमें अध्यात्मव्याख्या और राज्यशासन-वर्षणका अन्तर्भाव हुआ है वह वास्तव्य कहिये ।

क्यापि इसमें एक दृष्टिकोण है वह भी वहां देखना चाहिये । अध्यात्मविचार व्यक्तिके चरित्रके अन्तरका विचार है अधिदैवत विचार निरुपन्यस्त विचार है,

इन दोनों स्थायीय व्यवस्था ईशरीय नियमोंके अंगुण चلتती है, मानव
 चेतने ईशोपनिषद् नहीं पर सकृत् । मानव इन नियमोंका निरीक्षण करे, यहाँके
 शासक नियम देगे और उन नियमोंकी अभिभूत क्षेत्रमें अर्थात् मानव-सामान्य
 और राष्ट्रके क्षेत्रमें लगावे और तदनुसार राज्यशासन चलावे । इस तरह
 जो शासन प्रपञ्च होगा वह "अप्यात्माभिष्टितं राज्यशासन प्रबंध"
 होगा । यह कैसा है वह निम्नलिखित षोडशमें देखिये—

अप्यात्म	अभिभूत	अभिर्देयत
आत्मा	शासक	ईश्वर, विश्वशासक
गुदि	शासकसभा	प्रवृत्ति
मन	नियामक	विश्रमन
इन्द्रियो	अभिहारी	अग्नि-सूर्यादि प्राणि
प्राण	राष्ट्र, समाज	विषय

अप्यात्म और अभिर्देयत क्षेत्रके सभ व्यवहार ईश्वरीय नियमोंसे स्वयं
 चलते रहते हैं । ये नियम अटल हैं । उनके सामान्य नियम मनुष्य देगे और
 उन नियमोंकी मनुष्य अर्थात् मानवसमाजके शासनमें लगावे । इससे जो राज्य-
 शासन होगा वह अप्यात्माभिष्टितं राज्यशासन होगा । यह विचारपूर्वक और
 मननपूर्वक करना चाहिये । अग्नी स्मृतिश्रीका स्थायी भाग ऐसा ही निर्माण
 हुआ है ऐसा दासता है । श्रुतिके आधारपर स्मृतियों हुई हैं अथवा श्रुति
 और स्मृति एक ही ऐसा जो कहा जाता है, इसका भाव यह है । संहिताके
 मन्त्राके वचन समाज-शासनमें किस तरह परिवर्तित किये जा सकते हैं,
 यह समझमें आनेसे यह सभ सहजहासे ध्यानमें आ सकता है ।

यह ध्यानमें विशद रूपसे आनेके लिये हम यहाँ एक या दो उदाहरण
 देते हैं और बताते हैं, कि वैदिक अप्यात्म सिद्धान्त ही राजकारणके सिद्धान्त
 कैसे बनते हैं—

‘ईश-उपनिषद्’ यह ‘ईश-विद्या’ है । अर्थात् यह ईश बननेके

मिया है। पर का सामर्थ्य बढ़ाकर अन्ध आराध्य बनायेगी वह सिपा है। जहाँत वह सामर्थ्य संवर्धन करेगी मिया है।

बहुत ध्येन देखा करते हैं कि “ अमेरिकामें कोई एक सर्वभार्य पुत्र भी मैं अमेरिका का अन्ध बनूँगा ऐसी महत्वाकांक्षा वाला करता है और प्रभाव करके देखा अन्ध बन भी जाता है। बहुत मित्रात् वर्तता करते हैं और वह ध्येन भी है। अन्य आठवर्षों देखिये वहाँ कोई भीषण भी भीषण करा करनेवाला मनुष्य हो वह ओह होवे हुए भी मैं ईश्वर बनूँगा ऐसी महत्वाकांक्षा वाला करता है और वहाँ बहुत मक्ति देना मनुष्य केने तक अन्ध हो सकता है। ऐसे पाप बहुत हुए पाकरना लोप मात्र जल्द सब तथा भीषण जाठोंमें हुए हैं इसलिये हम यह समझते हैं कि ईश्वर कर्मोंकी महत्वाकांक्षा हम देखें हरकोई वाला कर सकता कर बहुत सबत भी हो सकता है। किसी एक देखा अन्ध होनेकी अनेक अन्धकोंमें भी अन्ध भी परम अन्ध ईश्वर है वह अन्य एक परम भेद ध्येन है मात्तने बोरीके अन्ध-रूपमें वह ध्येन रहता है और अनुमान करके कई ध्येन इसकी मस्त भी कर सकते हैं। क्या वह महत्वाकांक्षा कम है।

अध्यात्मिक आत्मानुमन केना अभिप्राय अन्ध अन्ध शासक केना और अभिप्रायमें परमप्रमा अन्ध आराध्य अन्य के अन्धताकी सीधियों हैं किन्ती महत्वाकांक्षा-कीन्ती है वह क्या बड़ा देती और मित्रात् करें कि कर्मोंकी महत्वाकांक्षा सर्वभेद है। वह अध्यात्मशास्त्र इस तरह सामर्थ्य बढ़ानेवाला शास्त्र है। पर का सामर्थ्य कर्मों का कर्म ही यह है कि जो सामर्थ्य कर्मों वही वह वह वहाँ बहुत हुआ और वह अन्ध बन। इसलिये इसे हम सामर्थ्यका शास्त्र यह समझते हैं।

“ मरुति सब प्रपञ्च बध्नाती है और मात्मा मरुता है। मरुता है केवल प्रपञ्च है। वह अध्यात्मिक मित्रात् कर जाती है—

मरुत्यैव न कर्माणि विप्रमाणाणि सर्वथाः । (गी. १।२९)

“प्रकृति” का अर्थ जैसा ‘पञ्चभूतात्मक प्रकृति’ है, वैसाही “पञ्चजन रूप प्रजा” भी है। इसी तरह कूटस्थ ईश्वर-प्रजापति का अर्थ “राजा, शासक” ऐसा भी है। ये अर्थ लेनेसे पूर्वोक्त अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें इस तरह परिवर्तित हुआ दीखता है—

अध्यात्म	आधिभूत
द्रष्टा, ईश	निरीक्षक, प्रजापालक
प्रपचकर्त्री प्रकृति	सर्व शासनव्यवहार करनेवाली प्रजा
पञ्चभूत	पञ्चजन

इस तरह देखकर बहुत कुछ विवरण हम कर सकते हैं। यहां अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिये हम एक दो और भी मन्त्र लेते हैं और देखते हैं कि अध्यात्मके सिद्धान्त राज्यशासनमें किस तरह परिवर्तित होते हैं—

ईशा चास्य इदं सर्वम् । (वा० स० ४०।१, ईश १)

“ईश्वरके द्वारा यह सब विश्व आच्छादित होने योग्य है।” यहां कहा है कि ‘ईश अपनी शक्तिद्वारा इस सब विश्वको घेरता है।’ ‘ईश’ वह है कि जिसमें ‘ईशन शक्ति, हो। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही ईश है, और वही इस विश्वपर प्रभुत्व करता है। इस विश्वमें बसना, रहना, घेरना, राज्य करना, इ पर अपना अधिकार प्रस्थापित करना यह सब ईश्वर अपने निज सामर्थ्यमें हा कर रहा है। किसी दूसरेसे सामर्थ्य प्राप्त करके वह ये कार्य नहीं करता। उसमें प्रचण्ड शक्ति है, इसलिये वह इस प्रचण्ड विश्वपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करता है। अर्थात् ‘सामर्थ्यसंपन्न जो होगा वही यहाका शासक हो सकता है।’ निर्बल के लिये यहां कोई स्थान नहीं है। निर्बल रहनेवाले गुलाम या दास रहें। पर जबतक ये सामर्थ्यसंपन्न नहीं होंगे तबतक ये शासक नहीं हो सकेगे।

एक दशका बीग दूमेरे देशमें जाता है, वहा वह रहता है, वहांके लोगोंको घेरता है, उनको दास बनाता है, उनपर राज्य करता है। इस इतिहासका एक

ही कार्य है और यह वह कि उस बीरसे अगर वैशा प्रकाश कलेस सामर्थ्य का और उस राज बने समुद्र वह नहीं था। समर्थके द्वारा अपने सामर्थ्यसे यह सब विन्म बसने सेले तथा प्रभुत्व करतेयेत्य है। सामर्थ्यहीनसे वह कार्य नहीं होना। इसी कारण मनुष्यसे सामर्थ्य प्राप्त, प्रजापी और प्रभुत्व-वर्धित पुत्र बना चढ़िये। अध्यात्मसे सिद्धांत राजधरमि इस तरह बोधार्थ ही बनी है। वे सिद्धांत सिद्धयेह मनुष्यका सामर्थ्य बढायेले है।

समर्थ वहां बसता है ऐसे भेदा है 'इसका कार्य वह है कि मुख्य राज-कायक प्रजापी मर्णात् सामर्थ्यपुत्र होना चढ़िये। इसी तरह सेले सेले राज-पुत्र बनाने राजसे अधिकारी भी सामर्थ्यवान् ही होने चढ़िये, अन्तिमपर अनेकान् पुत्र निर्णय सिद्धम बनना सामर्थ्यहीन नहीं होना चढ़िये। वह भी बीच कुछ बचने ही प्राप्त हो सकता है। इसका अधिक राजीकरण करनेका वहां आत्मवशता नहीं है। इसका वह स्वतः है। तथा और चढ़िये—

प्रजापते न त्वत् पतामि मम्यो निम्ना आतामि परि ता बमूषा
(अ. १ । १२११)

हे प्रजापते ! तुझसे मिल ऐसा कोई नहीं है कि जो इस छवि निम्न प्रभुत्व कर सके। इसी वरमि आनेक सामर्थ्यवान् है इससेले सुन्दर काय इस निम्न ही रहा है।

इसका राजधरमका मात्र निकटतम स्वतः है वह वह कि जिससे निम्न सामर्थ्य होना है वही वरम राजधरम का कर सकता है। पत्र के कि करने राजसे जासन प्रबंध किने समुच्च राजपुत्र केमलति आवासीक अन्य अधिकारी उत्तम परमि अर्थि अलक होने निपुत्र करव है तो हम वह कैसे की ? इस समय प्रजाका मम हम करनेक हैक है कि— " इस पुत्रम मित्र काह हुनरा पता नहीं है कि जा हम कार्यका कर सकें और इसका अधिक भण्ड भी कोई नहीं है। अता हम इस—

को नियुक्ति करते हैं। ” ऐसा प्रत्येक स्थानके अधिकारीके विषयमें हमें कहना चाहिये । ऐसा सुयोग्य पुरुषही उस स्थानके लिये नियुक्त किया जावे । राष्ट्रमें इस स्थानके लिये जितने पुरुष योग्य हैं उनमें यह अधिक योग्य है इसलिये इसकी नियुक्ति की जाती है । यह सर्वसाधारण नियम हुआ ।

यह इस जातिका है । यह मेरा समर्था है, इसलिये इसे मैं नियुक्त करता हूँ ऐसा कहना योग्य नहीं है । यह पुष्ट इस कार्य के लिये अत्यन्त योग्य है इसलिये इसको हम नियुक्त करते हैं ऐसा कहना चाहिये । यह नियम सावध रहकर पालन करना चाहिये । सूक्ष्म मननपूर्वक इस तरह मन्त्रोंका विचार करके राजकीय बोध प्राप्त करना चाहिये ।

वेदमें ऐसे सहस्रों मन्त्र हैं कि जो देवताओंका वर्णन करनेके विषयसे राज्यशासनका संदेश दे रहे हैं । पाठक इनका अवश्य इस दृष्टिसे मनन करें और वैदिक राज्यशासनविषयक बोध प्राप्त करें ।

ईश-उपनिषद्

‘ ईश-उपनिषद् ’ यह अध्यात्मशास्त्रका वैदिक ग्रन्थ है । यह सामर्थ्यकी विद्या है । यह सब अन्य उपनिषदोंका मूल आदि स्रोत है । सब अन्य उपनिषदें इस ईशोपनिषद्के सिद्धान्त ले लेकर और उनका विस्तार करके बनी हैं । इस पुस्तकमें ईशोपनिषद्के मन्त्रोंका सरल अध्यात्मिक अर्थ दिया है और उसके पश्चात् यही अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें किस तरह परिवर्तित होता है और उससे किस स्वरूपका राज्यशासन-प्रबंध-विषयक बोध मिलता है, यह बताया है । अर्थात् यह सब संक्षेपसे बताया है । विस्तार करना हो तो बहुतही ग्रन्थ बढ़ाना पड़ेगा । यह विस्तार कोई राजनीतिज्ञ जितना चाहे उतना कर सकता है ।

यहां इसका विशेष विस्तार न करनेका और भी एक हेतु है वह यह कि, इस तरह अध्यात्मके सिद्धान्तोंका राज्यशासनमें रूपान्तर करनेका प्रयत्न ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदोंके प्रतिपादनको छोड़कर, किसी आचार्यने अथवा किसी

सबको इस सम्बन्ध में किया है । इस तरह की यह पहिली प्रणाली है । हमने भी यह ईश्वरोपनिषद् कई बार हिन्दी-मराठीमें अनुवाद और स्पष्टीकरण के साथ छपित किया था पर जयमें भी हमने इस तरहका राजकीय स्पष्टीकरण नहीं किया था ।

ब्राह्मण-आरम्भक-उपनिषद् ग्रन्थोंको पढ़नेसे अन्धकारके, अविमृष्टके और अविश्वरूपके विद्वान्त एक पैरो हैं । वेदग्रन्थोंमें जहाँ अन्धता है, इच्छा स्पष्टीकरण हमने कदाचित् अनेक जगहोंमें किया और इन विषयोंकी एकता तथा सामान्यता के क्षेत्रों में अनेकवार प्रकाशित किये । सबसे यह स्पष्ट हुआ था कि अन्धकारके विद्वान्त ही अविमृष्ट (समाज का उत्थान) तथा अविश्वरूप में स्वस्वपरिवर्तित होते हैं, परन्तु आमतक हमने भी सर्व्व ईश्वरोपनिषद् राजकीयसम्बन्धित सब प्रश्न करनेवाला केन्द्र नहीं किया था यह ऐसा केन्द्र प्रथमवार ही प्रकाशित किया जाता है । यह विद्या ब्राह्मण-आरम्भकमें ही जन्म प्राचीन है, तथापि उसके पश्चात् इसका किशोर्णि केन्द्रित प्रकाशन न करनेसे यह वर्णिकी प्रतीत हो सकती है । पुनर्नि होयी हुई यह प्रतीति नृत्तन ही दृष्टि दृष्टी है । जहाँ इस विषयमें विवेचन हमने कीकिये ही किया है । इस प्राचीन पद्धतिविचार नामके विद्वान् भी और और इसके पुनरोद्धार तथा म्पूराधिकार का प्रयत्न करें और अपने विचार प्रकट करें । विद्वान् पण्डित अपने विचार केवलवत् करने प्रकाशित करेंगे तो अपने अविश्व संकीर्ण प्रयत्न करनेके लिये अन्धक छविना होगी । और इसी तरह किशोर्णि केन्द्रोपनिषद् यह ज्ञान कभी न कभी परिपूर्ण और विशील हो सकेगा ।

वेदग्रन्थोंमें मुख्यतः प्रत्येक का पुनर्निर्माण है । इसीप्रकार सर्व्व आत्मा जगत्सर्व्व मनुष्य, परमात्मा, इन्द्र मर्त्य, जमि, सूर्य आदि सब प्राण वायु आदि अनेक नामोंसे निर्मित वर्णिक है । किसी ज्ञानपर स्पष्ट दीर्घों और किसी स्थानपर पुनर्निर्माण है ।

सबसे बेदा परम्परा सामान्य (वर्णिक)

‘सब वेद (मन्त्र) जिस पदका वर्णन करते हैं ’ वह परमपद है । वही परमात्मपद है । यही ‘ ईश्वर ’ है ।

वेदैश्च सर्वैरह एव वेद्यः ।

(गीता १५।१५)

‘सब वेदमन्त्रोंद्वारा मेरा (ईश्वरका) ही वर्णन हुआ है ।’ इस तरह परमेश्वरका वर्णन अनेक पद्धतियोंसे वेदमन्त्रोंमें हुआ है ।

अब यह बात सबको विदिन है कि जिसे हम ‘ईश्वर’ कहते हैं वह राजाओंका राजा और महाराजाओंका महाराजा है । अर्थात् सबसे श्रेष्ठ राजा-धिराजका वर्णन ही ईश्वरका वर्णन है, जो वेदमें है । यदि हमें सबसे श्रेष्ठ ज्येष्ठ-राजका वर्णन विदित हुआ, तो उससे हमारे पृथ्वीपरके छोटे राजाके गुणोंका भी पता लग जायगा । इतना ही है वह ज्येष्ठराज (ईश्वर) सदा निर्दोष कर्म करता है और हमारे राजा और हमारे राज्याधिकारी मानव होनेके कारण प्रमादशील हैं । यह हो, पर ईश्वरके वर्णनसे हमें आदर्श राजाका वर्णन तो अवश्य मिलेगा ही । अर्थात् वेदमें आदर्श राज्य, आदर्श राज्यशासन, आदर्श राजा और राजपुरुषोंका वर्णन है ऐसा कहना किसी तरह अत्युक्तिका नहीं होगा । इसी तरह वेदमन्त्रोंसे राज्यशासन प्रकट हो सकता है और यही अध्यात्म तत्त्वोंपर अधिष्ठित राज्यशासन है । उदाहरणार्थ-ईशोपनिषद्के अष्टम मन्त्रमें—

कवि मनीषी परिभू स्वयम् । (ईश ८, वा य ४०।८)

ये पद परमेश्वरका तथा पूर्ण पुरुषका वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं । यह वर्णन राजाधिराज ज्येष्ठराज परमेश्वरका है । अर्थात् यही वर्णन आदर्श राजा-का है और हमारा आदर्श राजा ‘ ज्ञानी, सयमी, प्रभावी, पराक्रमी और स्वावलम्बी ’ हो यह बोध इससे मिलता है । इस तरहका राजा वेदोंके राज्यशासनमें होना चाहिये, ऐसा कहना किसी तरह अत्युक्तियुक्त नहीं हो सकता । यही पद्धति है कि जिससे वेदोंके राज्यशासन अथवा अध्यात्मपर

अविच्छिन्न राज्यशासन सिद्ध हो सकता है । यह प्रकृति है कि जिससे वेदमंत्रों-
का वर्णन राज्यशासनमें राजा का कर्त्तव्य है और यह नियोग ऐतिह्ये राजा का
कर्त्तव्य है ।

इस तरह इस प्रकृतिसे ईश-कर्मिण्डुलारा कर्त्तव्य राज्यशासन यह
दर्शाया है । पाठक इसका निम्न विचार करें ।

लेखक

श्री दा सातबकेकर

स्वाध्याय-मण्डल

आत्मशासन पारङ्गी वि सूरत

पौष शु १५ संवत् १ ६

ईश-उपनिषद्

[गुरु-शिष्यका संवाद]

स्वाध्याय-मण्डलके आनन्दाश्रमके वेद-महाविद्यालयमें गुरु शिष्योंका मिल-कर वेदमंत्रोंका स्वाध्याय चल रहा था । उसमें ' ईश-उपनिषद् ' अर्थात् वाजसनेयी अथवा श्रौतसंहिताके ४० वें अध्यायके विषयमें जो वार्तालाप हुआ वह इस तरह है—

शिष्य—गुरुजी ! मुझे ' ईश-उपनिषद् ' का अध्ययन करना है । कृपया पताइये ।

गुरु—इसमें पढ़ानेका कुछ भी नहीं है, पढ़नेवाला ही सब कुछ है । आप पढ़ते जायें, जहां कठिनाता आजाय वहां आप पूछिये । यदि कुछ हमें विदित हुआ तो हम बता देंगे, अन्यथा हम दोनों अधिक अन्येषण करेंगे और जे-सल प्राप्त करेंगे उसको आचरणमें लानेका प्रयत्न करेंगे ।

शिष्य—' ईश-उपनिषद् ' इस प्रयत्नका नाम है । इसका प्रारम्भ ' ईशा वास्य ' इन शब्दोंसे होता है ।

ईशोपनिषद्के नाम

गुरु—यह सत्य है, पर ' ईशा ' इस पदसे इसका प्रारम्भ होता इसलिये जैसा इसका नाम ' ईश-उपनिषद् ' है, वैसे ही ' ईशा वास्य ' ये पद प्रथम शब्दसे इसको ' ईशा वास्य उपनिषद् ', भी कहते हैं । इसी तरह इसके अन्य नाम ' आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मोपनिषद्, ब्रह्मोपनिषद् ' ये भी हैं । क्योंकि इसमें ' आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म ' के विषयमें वर्णन है । हम इसका नाम ' सामर्थ्य-विद्या ' ऐसा भी रख सकते हैं क्योंकि यह सचमुच " सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या " है । नरका

वायुमन्त्र शीतल शिव कलेखी कह लिखा है । इसलिये इसका नाम सामर्थ्य विद्या ' होना स्वाभाविक है और कोन सी है ।

प्रिप्य-सर्वं व्यवहृतं किञ्चिद्देष्टुं नदी नद्या ।

पुरु—हां ऐसा नहीं कहा यह सत्य है । आप-जैसे जैसे वेदका अध्ययन करते जायेंगे वैसा वैसा आपको आत्मतक विधीये व कहीं नहीं कहनी पड़ेगी और कोझी भी पड़ेगी । नहीं तो वेदके अध्ययनका परिणाम होता है और होता भी चाहिए । क्योंकि आपतक बहुत तरहकी मूल वैदिक संविधानोंका पार्श्व अध्ययन नहीं हुआ, इसलिये वेद-विद्या अज्ञात ही रही । यह इस तरहके अध्ययनसे अब प्रकट होगी । और नये नये वैदिक आवेष्ट प्रकट होते ही रहेंगे ।

छिप्प—यह ठीक है, पर आप इस कानिबगले सामर्थ्य-विद्या किसे प्रदानसे करते हैं ?

सामर्थ्यही विद्या

गुरु—यह बात क्या वाक्य है। इसका नाम ईश-अपनिषद् तो है
 यह नाम का वाक्य है। नरक मातृका होनेकी यह विद्या है इसमें भी किसी
 को कोई दोष नहीं है। ५ मातृका कहे का नरक ही यह है कि "ईश-अपनिषद्
 वाक्य प्राप्त करना। मातृका वाक्य प्राप्त करनेके बिना कोई भी नर मातृका
 का नहीं पकटा। इस कारण इसको हम मातृका-विद्या ऐसा भी कह
 सकते हैं। इसका प्रतीक नाम ईश-अपनिषद् है। अपनिषद् का नर
 निषा है। वैदिक समयमें ऋषि-मुनिकों की ही और हम समानोंमें
 बाबा प्रणवराम मानवीन जीकले विद्यापीठपर निष्ठा होते थे। उन समाधीका
 नाम अपनिषद् था। उन समाधीका जो निर्देश होता था उनके भी
 अपनिषद् ही कहा जाता था। परिषद् ही अपनिषद् है। कठ वाक्य
 की अतिशयोक्ति का कठ-अपनिषद् और ऐतिरेक अतिशयोक्ति केतिरेक-अप-
 निषद् नाम भी प्रसिद्ध है। ऐसा ही यह ईश-अपनिषद् है।

शिष्य—गहाँ ईश जन्मका क्या महत्त्व है ?

गुरु—‘ ईश ’ शब्द मंगलवाचक है, इसी तर्ज ‘ ईश ’ वाच्य ‘ जिससे पाम ईशान करनेकी शक्ति है, जिसमें स्वामी होनेका सामर्थ्य है, जिसमें राज्य शासन करनेका बल है यह ईश होता है । ’ ऐसा ईश बननेकी यह विद्या है । इसके पढ़नेसे सामर्थ्य प्राप्त करनेका मार्ग विहित होता है इसीलिये इसको ‘ ईश-उपनिषद् ’ कहते हैं ।

शिष्य—इस ईशोपनिषद् के पढ़नेसे मनुष्य सामर्थ्यधर्य तो सक्ता है ?

गुरु—नहीं नहीं ! केवल पठनमात्रमे नहीं, पढ़िले पठन करना, पश्चात् उसका अर्थ जानना, तदनुसर उसका मनन करना, उस ज्ञानसे अपने जीवनमें डालना और अन्तमें ऐसा बनना है । इतना अनुष्ठान करनेसे साधक मनुष्य ईशान-सामर्थ्यमे युक्त हो सकता है । अर्थात् ईश बन सकता है । ईश बननेका ही अर्थ सामर्थ्यसंपन्न होना है । जिसमें सामर्थ्य नहीं है । ऐसा कोई भी निर्वल पुरुष ईश बन ही नहीं सकता ।

शिष्य—हां ! अब मेरे ध्यानमें आया कि यह ‘ ईश-उपनिषद् ’ है अर्थात् यह ‘ सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या ’ है । अब आगे इसका ‘ शान्ति मंत्र ’ यह है ।—

ॐ पूर्णं अद , पूर्णं इद , पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णं आदाय , पूर्णं एव अवशिष्यते ॥

ॐ शान्ति , शान्ति , शान्ति ॥

इसमें ‘ ॐ ’ यह पहिला शब्द है । इसका तात्पर्य क्या है ?

श्रेष्ठ बननेका ध्येय

गुरु—‘ ॐ ’ का अर्थ ‘ सरक्षण ’ है । हमारा सबका सरक्षण हो यह इसका अर्थ है । ‘ अ-उ-म ’ ये तीन अक्षर इस ओंकारमें हैं, इनका अर्थ क्रम-

से अहि-उत्तम-मानवीय है । यदि अर्वाह पाईजा बनस्य चाहिये
उत्तम अर्वाह केह बनस्य चाहिये और मानवीय बनस्य चाहिये । ये
तीन अर्वाह ओकरके तीन अक्षरोंसे प्रकट होते हैं ।

अकारः—आदिभ्य भवति० ।

इकारः—उत्कर्षति इ धी जानस्यति ।

मकारः—मिनोति इ वा पठस्तर्कम् ॥ (माह्वन् ७ १११)

सबमें प्रथम होना सबसे अधिक उत्कर्ष प्राप्त करना और सबस्य परित्याग
प्राप्त्य यह ध्यानार्थ से ही हो सकता है इस ओकरसे भी कुछ कल्प है कि
यह ध्यानार्थ-प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठान है ।

शिष्य—ओकरके अ-उ-म ये तीन अक्षर अपना उत्कर्ष एवं प्रकटसे
करके अर्वाह दे रहे हैं यह बात क्या मेरे ध्यानमें आचरी है ।

गुरु—इतनी ही बात इसमें बड़ी है । माह्वन् उपनिषद्में इसका विवरण
और भी मननपूर्वक देखनेयोग्य है—

आगारितस्यामो— अकारः

स्वप्नस्यामः इकारः

सुषुप्तस्यामः मकारः

(माह्वन् ७ १११)

अक्षरसे जागृते अक्षरसे स्वप्न और अक्षरसे स्वप्न निद्रा ये मानवी
जीवनको तीन अवस्थाएं कहाँ बतायी हैं । जागृतिके एवं व्यवहारमें प्रथम—
उत्कर्ष—प्राप्त करना चाहिये स्वप्न भी उत्कर्षके आने चाहिये और सुषुप्तिपर भी
प्रभुत्व चाहिये । मानवी जीवन की इन तीनों अवस्थाओंमें उत्तम मान एवं
अहिम्ना । यह कहाँ सुचित होता है । यही मानवीय मूल्यों को पूर्ण
अवस्था है ।

शिष्य—मेरे कर्ममें आता कि ओकर द्वारा मानवी उत्कर्ष जीवन बताया
ह और इस उत्कर्ष जीवनमें मानवी उत्कर्ष प्राप्त करना चाहिये यह कहाँ

सूचित होता है । सचमुच सामर्थ्यके बिना यह नहीं होगा । अब इसके आगे 'पूर्ण अदः, पूर्ण इद' यह मन्त्र है, इसका अर्थ 'वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है' ऐसा दाखता है । यहाँ किसी वस्तुका निदर्श नहीं है । (अद इद) 'वह' और 'यह' इससे किसका बोध हो सकता है ?

यह विश्व पूर्ण है

गुरु—'पूर्ण' शब्दका अर्थ तो सब जानते हैं, पूर्ण, जो न्यून नहीं, जिसमें किसी तरह कीनता या न्यूनता नहीं, सब प्रकारसे जो-जैसा होना चाहिये वह वैसा है अतः वह पूर्ण कहलाता है । 'अदः पूर्ण' वह ईश्वर पूर्ण है, वह अपूर्ण नहीं है, वह जैसा चाहिये वैसा सर्वगुणसंपन्न है । उसमें किसी तरह से न्यूनता नहीं है । 'पूर्ण इद' 'यह विश्व भी पूर्ण है' यह विश्व भी जैसा चाहिये वैसा गुणसंपन्न है, इस जगत्में भी अपूर्णता नहीं है ।

शिष्य—'पूर्ण इद' यह विश्व भी पूर्ण है यह हम कैसे मान सकते हैं ? सब लोग कहते आये हैं कि यह जगत् क्षणिक, दुःखमय, दोषपूर्ण, हीन तुच्छ, हेय, त्याज्य, बधन और पाशरूप है । और आप कह रहे हैं कि यह विश्व भी पूर्ण है यह कैसा माना जा सकता है ?

गुरु—सब तत्त्वज्ञान अनुभवसे माना जा सकता है । इस विश्वमें आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, पर्जन्य, जल, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, भूमि आदि पदार्थ हैं । क्या ये सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे नहीं हैं ? क्या सूर्यमें कुछ न्यूनता है ? क्या भूमिमें आप कुछ सुधार सुझाना चाहते हैं, क्या वायु जैसा चाहिये वैसा नहीं है, क्या इनमें कुछ अपूर्णता कोई देख सकता है ? क्या इनका सुधार कोई करके दिखायेगा ।

शिष्य—सूर्य-चन्द्र-वायु-जल-पृथ्वी आदि सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे हैं, इनमें कोई अधिक सुधार सुझा नहीं सकता, न कोई सुधार कर सकता है । निःसंदेह ये सृष्टिके पदार्थ जैसे चाहिये वैसे ही हैं । अर्थात् ये पूर्ण हैं, निर्दोष

जी है । तुरन्त कोई चीज नहीं है, जैसे ही वायु-आग्नि-जल आदि में भी दोष नहीं है ।

शुद्ध—इत्यादी नहीं परंतु नाम अमर, वेद, वेद अवाह, अमर, वायव्य वेद, कने यह मूल आदि जालेकी वस्तुअभि जी क्या कोई हीनता है ? वे सब परार्थ जैसे चाहिये जैसे नहीं है ?

शिष्य—वे जी पदार्थ जैसे चाहिये जैसे ही है ।

शुद्ध—इतिवृत्ति क्या है कि पूर्ण ही वह विषय भी पूर्ण ही है । इस विषये कोई न्यूनता नहीं है । जो वस्तु वैसी चाहिये वैसी है । जा अतः वेदा चाहिये वैसा ही कह जा है ।

शिष्य—फिर शुद्ध अमरवाद इस विषयों सर्व साधिका सर्व बुद्ध देश कहीं करते हैं ? देश ही सब कुछ महत्त्व करते हैं । वे देश कहीं करते हैं ? इनके मतमें तो वह विषय साध्य है । आप इस विषयों पूर्ण करते हैं वह कैसे जाना जा सकता है ?

साधिकावाद और बुद्धवाद

शुद्ध—शुद्ध अमरवाद तथा आधुनिक मत महत्त्व इस विषयों हीन करते हैं वह कम है पर शुद्धपूर्व वैदिक वाक्पदकी विषयों हीन और साम्य नहीं क्या है । परंतु सर्व आत्मन्मय कहा है । वह विषय आत्मन्मय है देश कहेका साम्य ही वह पूर्ण है देश है । अर्थात् आधुनिक मतमें भी जो करें वह यदि वैदिक होता तो हम सबको बुर पैदा ही कहना स्वीकार नहीं करेंगे । जो वैदिक सिद्धान्त है कर्त्तव्य हम स्वीकार करते हैं । वैदिक सिद्धान्त सिद्ध होनेसे अन्य प्राप्त सिद्धान्त सर्व ही सम्बन्धित होते हैं । इस विषयमें और नरनेकी कोई किसी तरह आत्मस्वयता नहीं है ।

शिष्य — इस समय तो कभी मान रहे हैं कि वह अमर हीन और शुद्ध है ।

शुद्ध—हम जेब भी करते जो करते । हम यहां वैदिकमय वैदिक सिद्धान्त

कहा है उसका मनन कर रहे हैं । इसलिये वेद तो यह कह रहा है कि 'पूर्ण इदं' यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विश्व पूर्ण है, हीन और तुच्छ नहीं है । इसका हेतु भी है—'पूर्णात् पूर्णं उदच्यते' अर्थात् 'पूर्ण परमात्मासे यह उदित हुआ है ।' पूर्ण परमात्मा की यह उक्ति है, पूर्ण परमात्मा का यह प्रसव है । परमात्मा पूर्ण है इसलिये उसका यह कृति भी पूर्ण ही है । यह हेतु देकर इस विश्वको पूर्ण कहा है, इसलिये इसमें पूर्णतामें किसीको भी शका करना नहीं चाहिये ।

शिष्य—'पूर्ण इदं' का अर्थ 'यह विश्व पूर्ण है' ऐसा अर्थ कैसे हुआ ? यहा जगद्वाचक कोई पद नहीं है ।

गुरु—यहा जगद्वाचक पद नहीं यह मत्व है, पर 'इदं' यह पद प्रत्यक्ष दीखने वा अनुभवमें आनेवाले जगत् के लिये यहा आया है । जो अनुभवमें आता है, जिसके अस्तित्वके विषयमें किसीको भी शका नहीं है वह 'इदं' (यह) है । सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, अग्नि, जल, वनस्पति, पृथिवी मनुष्य, पशु पक्षी ये पदार्थ दीखते हैं, आकाश, वायु आदि अदृश्य पदार्थ हैं पर वे हैं, इसलिये ये सब 'इदं' (यह) करके बताये जाते हैं । यह सब विश्व है और यह पूर्ण भी है क्योंकि इसकी रचना पूर्ण परमेश्वरने की है । उत्तम चित्रकार जो चित्र करता है वह उत्तम ही होता है, उत्तम मूर्तिकारसे जो मूर्ति बनती है वह उत्तम होती है । इसी तरह सर्वश्रेष्ठ कुशलकारीगर परमेश्वर से यह विश्व बना है इसलिये यह पूर्ण है और यह अपूर्ण तुच्छ, हीन, हेय नहीं है ।

शिष्य—गुरुजी ! जो आप कह रहे हैं, यह सब आजकल जो उपदेश किया जाता है, इसके विपरीत दीखता है । क्योंकि आजकल ऐसा कहा जाता है कि 'यह जगत् दुःखदायी है, बधनकारक है, त्याज्य है, इसको त्यागनेके बिना परमेश्वर प्राप्ति नहीं होगी ३० ' और आप कह रहे हैं कि यह विश्व पूर्ण है, यह कैसे ?

शुद्ध—ये बेचका सिद्धान्त मन्त्रोद्धार प्रकट हो रहा है वह मैं नहीं बोल रहा हूँ । मन्त्रार्थ अद्भुत विचार और प्रयत्न के होते हैं इसलिये वे अपने अज्ञान से जो कुछ बोल रहे हैं उसको दूर करना है और वैदिकशास्त्रोंसे प्रकट करावे, आपि मन्त्रोद्धार विचार करते तथा अपना अद्भुत रसधर प्रयत्न बोलते हुए चलता है । इसलिये जो जोय कह रहे हैं कनकी तुल्य वेकडे सिद्धान्तोंके साथ करते अपना तुम्हें बोल्य है ।

शिष्य—ठीक है हम उस देखा ही करते आँखों । अब एक बात आती है वह यह है कि यदि यह पूर्ण सिद्ध कर पूरा परमेश्वरके सिद्ध आता है तो उस पूर्ण परमेश्वरमें कुछ न कुछ न्यूनता आनी चाहिये वह तो पहिले देखा परिपूर्ण नहीं रह सकेगा ?

शुद्ध—मन्त्र कहता है कि 'पूर्वस्व पूर्ण आत्मा पूर्ण एव अर्ध-शिष्यते' पूर्ण परमेश्वरके अन्तरसे वह पूर्ण सिद्ध बाहर आनेके पश्चात् वह परमात्मा वैसा पहिले का वैसा ही पूर्ण सिद्धि की न्यूनता कर्मों न जाती हुई वैसा ही वैसा परिपूर्ण रहता है । अर्थात् $x = y$ + z ।

$x = y + z$ अर्थात् अर्ध देखा होता है । अर्थात् अर्ध सिद्धिमें पर अर्ध ही अर्धचित रहता है । वैसाही वह अर्धमाना चाहिये । अद्भुत की बात भी देखी ही है । एक दीपके अर्ध दीप बलाने पर भी पहिले ही वैसा ही वैसा रहता है । एक सिद्धिमें भी अर्ध अर्ध सिद्धि सिद्धि करनेपर अर्ध ही सिद्धि होती न्यून नहीं होती वह वह जाती है । अर्थात् अपनी ही सिद्धि सिद्धि की पक्षों तो शुद्ध सिद्धिमें अर्ध ही होती पर अर्ध ही सिद्धि वह जाती है । इस तरह पूर्ण परमेश्वरके अर्ध सिद्धि सिद्धि होनेपर वह सिद्धिमें वैसा ही वैसा ही सामर्थ्यपूर्ण अर्ध परिपूर्ण रहता है । अर्थात् कुछ भी न्यूनता नहीं जाती है ।

शिष्य—यह तो अब समझमें आया है । पूर्ण परमेश्वरके अर्ध सिद्धि अर्ध प्रकट होनेपर वह वैसा ही वैसा ही परिपूर्ण है और वैसा ही परिपूर्ण

रहेगा । कितने भी विश्व निर्माण हुए अथवा कितने भी विश्व उसमेंसे निकल गये तो उसमें कुछ भी न्यूनता आनी नहीं है । यह समझमें आगया । अब इसके आगे 'ओं शान्तिः शान्ति शान्ति' ऐसी तीन बार शान्ति है वह किस लिये ?

गुरु—ओंकार का अर्थ तो इससे पूर्व बताया ही है । 'हमारी सुरक्षितता होनी चाहिये, हमें पहिला, उत्कृष्ट ज्ञानवान् और माननीय होना चाहिये' यह ओंकार का आदेश इससे पूर्व बताया है ।

शिष्य—हां ' ठीक है, वह हमारे ध्यानमें है । पर तीन बार शान्ति किस लिये कही है ?

विश्वशान्तिका ध्येय

गुरु—(१) व्यक्तिमें शान्ति, (२) समाज या राष्ट्रमें शान्ति और (३) विश्वमें शान्ति ऐसी तीन स्थानोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, तीनों स्थानोंपर शान्ति स्थापन हुई तोही विश्वमें सच्ची शान्ति स्थायी रूपसे रह सकती है अन्यथा नहीं । 'विश्वशान्ति' का वैदिक धर्मका ध्येय है, यह हम सब मानवानेही साध्य करना है, इसलिये मनुष्यको अपने आपको तैयार होना चाहिये । इस कार्यके लिये विशेष योग्यतावाला मनुष्य बनना चाहिये । प्रत्येक अपरिपक्व मनुष्य वह कार्य कर नहीं सकता । इसलिये प्रथम व्यक्तिमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये । व्यक्तिके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मामें शान्ति स्थापन होनेके लिये सुशिक्षा, सद्व्यवहार आदि अनुष्ठानके मार्ग हैं । इस तरह सब मनुष्योंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, नहीं तो कई मनुष्य गुण्ड रहे, तो वे समाजमें उपद्रव मचायेंगे । इसलिये मनुष्य मात्रमें सुशिक्षा, सुनियम, उत्तम अनुशासन आदि द्वारा शान्ति स्थापन होनी चाहिये । इसी तरह राष्ट्रों, समाजों और जातियोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये । नहीं तो एक राष्ट्र उठेगा और जगत् भरमें उत्पाति करता रहेगा । इसलिये

निबोधनपूर्वक ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे एक राष्ट्रीय जातीय भाव उत्पन्न हो । ऐसा होकर जिसमें जाति स्थापन हो सकेगी । परंतु यदि जिसमें जाति स्थापन नहीं हुई और चारों ओर बसने और कुछ होते रहे तो व्यक्ति को भी जाति नहीं मिलेगी और व्यक्तिही पूर्णता और भेदता भी नहीं हो सकेगी । इसीमें व्यक्ति-साहस-राहु-तथा जिसमें स्वायत्त जाति स्थापन करनेके लिये प्रयत्न होने चाहिये । यह जाति करवा वैदिक कर्मका श्रेष्ठ है । वैदिक कर्मका यह विस्तृत कर्मका है ।

शिष्य — यदि यह कर्मका वैदिक कर्मका है तो तो यह व्यक्ति नहीं हो सकना राष्ट्रवैदिक द्वारा ही यह जाति होनेकी संभावना है ।

गुरु — निश्चय ही वैदिक कर्म राष्ट्रीय कर्मही है । यह व्यक्ति द्वारा तथा राष्ट्रद्वारा करनेका परिपूर्ण कर्मका बनाने लगे हैं और वही इस ईश्वरविश्वके द्वारा प्रयत्न हो रहा है ।

शिष्य — अब कहते हैं कि इस ईश्वरविश्वमें केवल अन्धकारविद्या है, अज्ञान जाप करनेवाले होते हैं । परंतु आप कहते हैं कि “यह राष्ट्रशासन का उत्पन्न है और इसका उपयोग राज्यशासनके लिये है वह कैसे ? वह तो विपरीत ही बातें हैं ?

राज्यशासनकी विद्या

गुरु — आप एक श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और आपको अपनी कर्तव्य बुद्धि-शक्ति चाहिए । कौन क्या करता है इसके लक्ष्यके अन्तर अपनी बुद्धिकी शक्ति नहीं चाहिये । इसके निरन्तर प्रसंगमें कहा है कि व्यक्तिगत जाति और समाजकी जाति तथा निरन्तर स्थापन करवा इस विचारका ध्येय है । यह तीन “जाति” परसे जाते हुए हमें अब विचारना यह है कि क्या यह कभी राज्यशासनके बिना ही चलता है ? कहावित् कोई यह संकेत कि व्यक्तिगत जाति व्यक्तिके द्वारा ही चलती है । पर सामाजिक राष्ट्रों और निरन्तर जाति या निरन्तर राज्यशासनके प्रयोग द्वारा ही हो सकती है व्यक्तिगत प्रयत्न निरन्तर जाति कहावित् स्थापन ही ही नहीं चलती । व्यक्तिगत जाति

ईश-उपनिषद्

[अध्यात्मज्ञानपर अधिष्ठित सामर्थ्यका राज्यशासन]

प्रथम सिद्धान्त—“समर्थका शासन”

(१) ईशा वास्यं हव सर्वम् ।

(इदं सर्वं) वह सब दृश्यमान किन्तु (ईशा) ईश्वर (शासन) करने वाले व्यापने लग्य है ।

(१) ईश्वर इस विश्वको चेतन और व्यापक है, इसमें वसता है और इसका व्यवस्थापन करता है । जिसके अन्दर ईश्वर-शक्ति है जिसमें शासन करनेकी शक्ति है उसका नाम ईश है । अतः वहाँ प्रथम सिद्धान्त यह बताना है कि “जिसमें प्रजापति करनेका सामर्थ्य होता वही इस विश्व पर शासक होगा ।” शासक बननी जिस अधिष्ठान्त इस विश्वमें कायम करता है । इस संसारपर कौन शासन करेगा ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें कायम करनेका सामर्थ्य है वही शासन करेगा । जिसमें शासन सामर्थ्य नहीं होता वह शासन नहीं कर सकेगा । ईश्वरका शासन इस विश्वपर इसलिये हुआ है कि वह सबके अन्तर्गत व्यापक है । यदि वह विरक्त होय तो कदापि इस विश्वपर प्रभुत्व न कर सकेगा ।

ईश्वर केवल ईश्वर है इसलिये इस विश्वका व्यवस्थापन करना नहीं है, परन्तु वह सामर्थ्यवादी वह अधिक और अग्रिम सामर्थ्यवान् है इसलिये वह इस विश्वका प्रभु और प्रजापति हुआ है । इसमें विशेष ईश्वरशक्ति है इसलिये वह इस विश्वपर राज्य कर रहा है । यदि उसमें प्रभुत्व-शक्ति न होती तो वह इसका प्रभु नहीं कर सकेगा अतः जिस भी वस्तुका शासन नहीं मानेगा ।

एक वीर दूसरे राज्यपर आक्रमण करता है, उसको अपने सैन्य बलसे घेरता है, उस राज्यमें घुसता है, वहां रहने लगता है, वहां राज्य करता है, उस राज्यके लोगोंको अपना दास बनाता है, उनसे प्रणाम और पूजा लेता है इसका एकमात्र कारण यह है कि उस विजयी वीरमें वैसा सामर्थ्य है और उस पराजित राष्ट्रमें वैसा सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य कम होनेसे ही पराभव या पारतन्त्र्य होता है। इसलिये वेदमन्त्रमें कहा है कि (ईशा इदं सर्वं वास्य) शासन सामर्थ्य जिसमें है उसके द्वाराही यह सब ससार घेरने व्यापने और प्रशासन करने योग्य है। निर्बलके लिये यहा शासक होनेकी कोई आशा नहीं है। निर्बल शासक हुआ तो उसको अपने स्थानसे अपनी निर्बलताके कारण हटना ही पड़ेगा। जो समर्थ होगा वही यहाका शासक हो सकता है।

शिष्य — 'ईश्वर सर्वत्र व्यापक है' इतना ही इस मन्त्रभागका अर्थ सदा टीकाकार तथा प्रवचनकार मानते हैं। परन्तु आप तो इसका अर्थ राज्यशासन-व्यपक बता रहे हैं यह कैसे ?

गुरु — शान्ति मन्त्रके अर्थके मननमें तथा तीन शान्तियोंके मननसे हमने देखा कि, तीन शान्तियोंकी स्थापनाका कार्य बिना राज्यशासनप्रबन्धके नहीं हो सकता, अतः जो तीन शान्तिस्थापनाका कार्य है वह राज्यशासनप्रबन्धमेंही होनेवाला है यह निश्चित है। यहा इस तत्त्वज्ञानका सबध राज्यशासनके साथ जुड़ चुका है। अब बात रही की 'ईशा इदं सर्वं वास्य' इसका क्या अर्थ है यह देखना। तो 'ईश' पदका अर्थ "स्वामी, अधिकारी, शासक, नियामक, राजा, शासनकर्त्ता, राज्यशासन करनेवाला" यह है। ये इसके अर्थ प्रसिद्ध हैं। अतः "शासक अपने शासनसामर्थ्यसे इस सब जगत्का शासन करनेयोग्य है" यही इसका मूल अर्थ है जो सर्वथा राज्यशासनका महत्त्वपूर्ण सदेश देता है, सब देशोंका राजकारणका इतिहास इसी सिद्धान्तकी साक्षी देता है। "ईशा इदं सर्वं वास्य" ईश इस सबमें बसता है, इस सबको आच्छादित कर रहा है, इसका शासन करता है, इसका प्रबन्ध करता है, इसका अर्थ ही यह है कि 'समर्थ

अपने धर्मार्थके अथवा काल्पनिक करता है वह धर्म निर्मलके नहीं हो सक्ता । ईश्वर का धर्म धर्मिके दृष्टि आत्मा शरीर तथा मा अथवा और अणुधर्मों अथवा विधर्म परात्म्या है । पर धर्मत्र निरम एव ही है वह वह कि सामर्थ्यवान् अपने मित्र सामर्थ्यसे इस जगत् पर शासन करता है । राज्यशासन ही वह भाव है । क्योंकि निरा अध्यात्म सिद्धान्तों पर आधारित राज्यशासन की अनुकूलताके अन्वये उचित नहीं हो सकती । इसलिये प्रायः वे आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त राज्यशासन-मध्य कुछ स्वल्प विचलनेके किये ही हैं । इस बातका आशय किन्हीं निश्चय नहीं किया इसीसे भारतीयोंकी इच्छा हुई है । परन्तु अन्तर्गत की हो बुद्धि व-होना मन्त्रिधर्मके किये तो ही इस विचारके अन्तर्गत करण चाहिये और ऐश्वर्या चाहिये कि वा-वात्म-सिद्धान्तोंका एकदलीय स्वल्प क्या है । वह इस दृष्टि उपनिषदके अन्तर्गत देखिये । अथे दूसरा सिद्धान्त देखिये—

द्वितीय सिद्धान्त— समष्टि-व्यष्टिका सहकार्य

१ यत् किञ्च जगत्प्रां जगत् ।

यों कुछ (क्या है) वह समष्टिके आधारके व्यक्ति (देखा दे।)

(१) समर्थ अपने धर्मधर्मके इस अन्तर्गत पर अन्तर्गत करता है । वह अन्तर्गत समष्टिके आधारके व्यक्ति ऐसी पद्धतिसे कहा है । अथवा समष्टि का अन्तर्गत एक अन्तर्गत व्यक्ति रहती है । जगत् एक पदार्थ है और अन्तर्गत अन्तर्गत समष्टि अन्तर्गती है । अन्तर्गतके आधारके व्यक्ति रहती है । अन्तर्गत आधारके एक व्यक्ति रहती है । अन्तर्गत कहा आधारधर्मके अन्तर्गती है । अन्तर्गतधर्मके आधारके एक व्यक्ति रहती है ।

व्यक्ति जाती रहती है पर संभव अन्तर्गत है । एक हिंदु मत है पर हिंदुधर्मात् अन्तर्गत है । समष्टिका अन्तर्गत (ईश्वर) संभव अन्तर्गत है । समष्टि अन्तर्गत अन्तर्गत पर अन्तर्गत है पर अन्तर्गती की अन्तर्गत व्यक्ति हुई तो भी वह अन्तर्गतात्मी है । अन्तर्गत की अन्तर्गत किन्ना नाम से भी व्यक्ति अन्तर्गत नहीं हो सकती

परंतु सध अमर रहना है। व्यक्तिका आधार सध है। व्यक्तिका बल सधके आधारसे है। जो बलवान व्यक्त हुए उनकी सधका बल प्राप्त हुआ था। सधकी शक्ति पीठपर ही ता ही व्यक्ति समर्थ हो सकती है और वह उस सामर्थ्यसे समाज या राष्ट्रका शासन कर सकती है।

समाज स्वतंत्र है, व्यक्ति समाजका मामला प्राप्त करके ही कार्य कर सकती है। इसलिये समाज मुख्य है और व्यक्ति गौण है। चूँके समाजके आधारसे व्यक्तिका अस्तित्व है, तथा व्यक्ति नाशवान् है, इसलिये सब धन ऐश्वर्य आदि सधका है, व्यक्तिका नहीं। धन किसी व्यक्तिके पास हो, पर उसपर समाजका अधिकार है और व्यक्ति केवल विश्वस्त है। जबतक उस धनका विश्वस्त होकर ही व्यक्ति कार्य करती रहंगी, तबतक उससे कोई उपद्रव नहीं होगा। पर जिस समय वह विश्वस्त नहीं रहगी, उस समय वही धनी व्यक्ति समाजमें उपद्रव उत्पन्न करगी। इसलिये व्यक्तिको विश्वस्त होकर धनका उपयोग क ना चाहिये।

व्यक्तिके पास धन हो, पर मरनेके समय उस धनपर का उस का अधिकार नष्ट होता है, सब धन यहाँ छोड़ना पड़ता है। इसलिये सब जान सकते हैं और अनुभवसे कह सकते हैं कि धन व्यक्तिका नहीं। इसलिये यह धन समाजका है। क्योंकि समाज मरता नहीं, कमम कम व्यक्तिकी अपक्षासे समाज शाश्वत है। जो शाश्वत है उसीका सब धन है। उम्रके सुख और आरोग्य के लिये सब धन है। इसमें व्यक्तिका सुख और आरोग्य आ जायगा।

समाजका शाश्वतपन और व्यक्तिकी अशाश्वतता देखनी चाहिये और व्यक्त तथा समाजका संस्कार कराकर दोनोंके विकास करनेका नियोजन नियन करना चाहिये। यह राष्ट्रीय नियोजनसे ही हो सकेगा। व्यक्तिके प्रयत्नसे कुछ बागा नहीं।

जगत्में मध्वादी और व्यक्तिवादी ऐसे दो पक्ष प्रबल हैं। सधवादी व्यक्ति-को पूर्ण परतंत्र करके उसकी स्वतंत्रताको मारते हैं और व्यक्तिवादी

संन्यासिणी पत्नी व काके आर्तिपत्नी पूर्ण स्वीय करने आत्मकी अति प्रिय
बना लो है । ये दोषों की वज्र कबीर हैं तथा मानवताके विनाशक
हैं । तबिने इसे दूर करने आये (या तात् समय सह मेह) दीर्घायु
सुखर लब्ध बाधकारी है एना कहा है । यही लक्ष्यर केने संन्यास
है और वह मानवके लिये आवश्यक भी है ।

सुख भिक्षु — “ आगये मोय ”

३ तन रक्कन सुखिया ।

(आत्मके आचारने कर्मान्तर है) इसलिये आत्मके मोय भी ।

(१) स । इहे आचार आर्ति पत्नी व का के लिये भिक्षु कहा ।
इसीके आत्मके मोयके विवेक आत्मका है । आत्मके और आचार का
है ये केने लक्ष्य है इसलिये सुखे भक्ति है कि ये सम साहित्यके लिये
आत्मके वक्तव्य को विनाश प्रदान करते हैं अपने लक्ष्यके लिये आचारके
मोय मोय । भक्तिके आचार यही समान्य विवेक का रहा है । भक्तिके
आत्मके मोय ये वक्तव्य कि भिक्षु आत्मके दूसरे मोय वक्तव्य है, मुझे
है नये है कि आचार २ ।

भिक्षु — आत्मके मोय किन तरह ही कछा है ? मोयने ही
मोय हो लक्ष्य है । न आगये मोय केला हीना ।

सुख — मोयके मोयके अथ लक्ष्य उपयोग दान । नर मनुष्य की वक्तव्य
आत्म मवादि है । मोयकी भिक्षु आगे काली मनुष्य का नही लक्ष्य
होनेके अर्थान्तर का नही लक्ष्य एक समय अनेक वक्तव्य पढ़न नही लक्ष्य
अनेक नर वा अनेक आत्म उपमानके नही लक्ष्य लक्ष्य । इस तरह आत्मके
आत्म व केने मनुष्यके लिये वक्तव्य है । इस आत्म अर्थान्तर आत्म आचार
आत्म पास संन्यास आत्मके लक्ष्यकी मोय आत्म नही ही लक्ष्य । इसलिये
अर्थान्तर है २ केने उपयोग लक्ष्यके लिये है । इसलिये लक्ष्य
है कि आत्मके मोय मनुष्य लक्ष्य नर ही नही लक्ष्य ।

अब त्यागसे भोग देखिये । यह जितना चाहिये उतना किया जा सकता है । आपके पास बहुत अन्न हो तो बहुनोंको आप खिला सकते हैं, खिलाइये और उनके समाधानसे आप अटूट समाधान प्राप्त कीजिये । यह त्यागसे भोग जितना चाहिये उतना हो सकता है और यह समाजका, सघका, जातिका, राष्ट्रका अथवा देशका बल बढा सकता है । सघके लिये यह हितकारी है । इसलिये त्यागसे भोग करना चाहिये यही युक्तियुक्त है ।

शिष्य—‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा’ इस मन्त्रभागका अर्थ “उस ईश्वरने दिये भोगोंका भोग कर” ऐसा सब फाते हैं और आपने तो ‘इस हेतुसे त्यागसे भोग कर’ ऐसा अर्थ किया है, यह कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है ?

गुरु—देखो ! ‘तेन’ यह पद उसके निकट पूर्वके पदोंके साथ सबध रख सकता है । बहुत दूर स्थित पूर्व पदोंसे सबध मानना यह दूरान्वय है । दूरान्वय दोष है । वेत्ता अर्थ करनेमें दूरान्वय दोष नहीं होना चाहिये । निकट पूर्वमें ‘जगत्यां जगत्’ ये पद हैं इनका अर्थ ‘समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है’ यह है । इसलिये ‘इस हेतुके लिये त्यागसे भोग व्यक्तिको करना उचित है ।’ यह पूर्वापर सबध देखकर इसका सरल अर्थ हुआ । व्यक्ति सर्वथा समाजके आधारसे जीवित रहनेवाली है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह अपना सर्वस्व समाजके लिये अर्पण करे और समाजके ऋणसे उन्मूक्त हो जावे । यह हेतु बतानेवाला ‘तेन’ पद है । अतः इसका अर्थ ‘इसलिये, इस कारण, इस हेतुसे, इस प्रयोजनसे’ ऐसा है । यह पूर्वापर सबधसे अर्थ होनेसे यह युक्तियुक्त है और हम बता भी सकते हैं, कि ऐसा न करना दुःखका हेतु हो सकता है । यदि कोई व्यक्ति अपने पास सब भोग समग्र करके रखता है और समाजको उनका समर्पण करता नहीं तो वह समाजमें दुःख बढाता है । कई व्यक्ति दुःख भागते हैं और वे दुःखित व्यक्ति बलवा मचाते हैं और सब समाज अस्वस्थ हो जाता है ।

कम बीर भी देखिये । यदि तब त्यकेन भुञ्जीया। कभी कम
 'देखाये दिने मोर्षीका मोल कर' ऐसा किंचि वाक्या तो बहुत मान बढ़
 होना कि जो कम दिखने पात्र है वह बहुत ही ईश्वरने दिया है ऐसा वह माने
 और बहुत मोल बढ़ करे । कल्पति करोकपति कपकरो ही है कि कमसे
 कम कम परयेद्वारे दिया है इसलिये कम कल्पत कमच मानिधर है,
 कला है बहुत कम माने निम्न मोल कर कल्पी है । यह भविष्यके निम्न मोल
 कल्पिने दिया ही कल्प है जो मानके मन्त्रारके अनुकूल भी कल्प है । पर
 यह कल्प तब त्यकेन भुञ्जीया। हन्ता नहीं है । एक तो प देखने
 किन्तु कला दिया इसका भी पता नहीं होता । किसी तरह कुमाकुल
 मानिने प्राप्त दिया कम माने ही मोलके निम्न है यह कल्पी-प्राप्त है । इसीका
 कल्पन वहीच मानिकका मानके अनुकूल समये कल्पकल बढ़ करे यह
 मानिक कल्प है । कला तब कम बहुत निम्न है एका देखका मानिक को
 कल्पन भी प्रष्ट जाता है वही कल्प मानिक मानिक है । जो कम कम
 कल्पिका नहीं, बहुत निम्न है समानके निम्न है कमच कल्पन समानके
 निम्न हना कल्पिने एक मानिक कोल है । इसलिये "हम हेतुने यह
 करके वहीचकिहका कोल माने निम्न की ऐसा देखने कल्प दिया है । और
 वही कल्प दुष्टिमुक्त है और कही कल्पिका औरन बहुतन कल्पकल होमिने
 कल्पकल है ।

चतुर्थ सिद्धान्त—“कोमका साधन”

४ साधन ।

कोम न धर । मत कल्पका ”

(४) व्यक्तिने भीकले ही कमायी कल्पकल कल्प है । व्यक्ति
 कल्पत किन्तुकाही का नहीं है यह ता मानिकका है । निम्न भी कल्प
 मध्ये ता भी एक व्यक्ति कम कल्पकल कल्प कल्पत रह नहीं कल्प । कला
 यह व्यक्तिने कोम कल्प करके यह कम योरा है एका मानिक कल्प कोमके

लिये अत्यधिक भोगोंका सप्रद किया, तो भी मृत्युके बाद वे सब भोग छोड़कर उनकी जाना ही पड़ेगा। सहस्रों यज्ञोंके करनेपर भी वह धन उस कारण उसका है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण अशाश्वत व्यक्तिका धन नहीं है, उस व्यक्तिको वह धन छोड़ना ही पड़ता है। वह किसके पास वह देता है? समाजके पास देता है। लोग मानते हैं कि पुत्रके लिये छोड़ता है, पर यह धारणा भी अशुद्ध है, छाड़नेवाला समाजके लिये छोड़ देता है, पुत्र उसपर अपना अधिकार जमा देता है, पर वह भी अपने पिताके समान ही किसी दिन उसको छोड़ ही देता है। अतः अन्तमें वह समाजका होकर रहता है। अपुत्रका धन समाजका या राष्ट्रका होता है इसका अर्थ यही है, कि जिसका वह था उसके पास वह पहुँच गया। इसलिये किसी एक व्यक्तिका कोई धन नहीं है। उसका जवन भी समाजसेवाके लिये ही है, उससे भोग भोगकर जीवित रहना है, तो वह समाजसेवा—जनताजनादनकी सेवा—के लिये ही है। इसलिये व्याक्ति यह समझे कि मैं इस धनका विश्वस्त हूँ और विश्वस्त जैसा व्यवहार व्यक्ति करे और धनको समाजकी सेवा में लगावे अर्थात् उसका यज्ञ करे। धनका उपयोग यही है। अतः कहा है कि 'लोभका त्याग करो।' लोभसे ही सब दुःख होते हैं।

पञ्चम सिद्धान्त—“ धनपर प्रजापतिकी अधिकार ”

५ कस्य स्विद् धनम् ।

“ किसका भला धन है ? ” (प्रजापालकका धन है ।)

(५) किमका धन है ? क्या व्यक्तिका धन है ? व्यक्ति शाश्वत नहीं रहती। इसलिये व्यक्तिका धन नहीं है। फिर धन किसका भला है ? सोचो, विचारो, मनन करो। और विचारपूर्वक जान लो कि व्यक्ति जिन धनको छोड़कर चली जाती है वह धन समाजका ही होता है। जिसका सम्बन्ध था उसका वह हो जाता है। इसलिये पहिले ही से मान लो कि यह सब धन समाजका ही है।

ऐसे दो विभाग इसके हैं अथवा 'मा गृध कस्य स्विद्धन' ऐसा एक ही यह वाक्य है ?

गुरु — टीकाकारोंने 'मा गृधः कस्य स्विद्धन' ऐसा एक ही वाक्य मानकर अर्थ किया है यह मैं जानता हूँ। पर स्वयंज्ञानही दृष्टिसे वह ठीक नहीं है। जिसके धनका अपहरण न कर यह कहनही ही आवश्यकता नहीं है। जो दूसरेका है वह लेनेसे चोरी होगी और चोरी तो नहीं करनी चाहिये। यह बिना कहे भी सर्वमान्य आचार है। यह धन दूसरेका है, इसीसे सिद्ध हुआ कि उसका अपहरण करना नहीं चाहिये। पर इससे अर्थापत्तिसे एक महा अनर्थकारक विचार प्रकट होता है यह यह कि—

'दूसरेके धनका तो तू अपहरण करने उसका भोग न कर, परंतु अपने धनका भोग यद्येच्छ कानमें कोई आपत्ति नहीं है।' यह राष्ट्रीय स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बड़ा अनर्थकारक और हानिकारक भाव है। समाज और व्याक्तिका संध धरता कर कोई कहे कि समाज स्थायी है और व्यक्ति मरनवाली है, इसलिये धन तब समाजका है, वह किसी एक व्यक्तिकानहीं यह उत्तम सिद्धान्त तब नेके पश्चात् यदि वेदने अपने धनका यद्येच्छ उपभोग लेनेकी अनुमति दी तो इसका पूर्वका संध धन ही टूट गया ऐसा सिद्ध होगा। और वह आयोग्य ही होगा। कई लोग करोड़पति होते हैं, वे अपने धनका स्वयं भोग करें यह पढ़ना स्वार्थको बढ़ाना है, यह युक्तियुक्त भी नहीं। परिग्रह शक्ति व्यक्तिमें न रहेगी तो वह समाजकी शान्तिमें उपद्रव उत्पन्न करेगी। इसलिये मनुष्योंको अपरिग्रहही और लाना चाहिये। इसलिये—

१ त्यक्तेन भुञ्जीथा = त्यागसे भोग कर,

२ मा गृध = लोभ न धर,

३ कस्य स्विद्धन = किसका भला धन है ? (नि सदेह प्रजापालकका धन है ।

ये तीन उपदेश अपरिग्रहही और जनताको लेजाते हैं और सामाजिक शान्तिके लिये ये तीनों योग्य तथा आवश्यक भी हैं। इसलिये ऐसे ही विभाग

लिये स्नान किया, ध्यायाम किया, भोजन किया, कपड़े पहन लिये तो विशेष कुछ न बना। इसलिये इनके क ने पर भी न करनेके समान ही समाजस्थिति रहती है इसलिये ये 'अकर्म' हैं। ये करने तावश्यक चाहिये। पर इनने ही करनेसे मनुष्य कृतकृत्य नहीं हो सकता। इस तरह विकर्म करने नहीं चाहिये, और अकर्म करने चाहिये, पर वे सामाजिक या राष्ट्रकी सामूहिक दृष्टिसे न करनेके समान ही हैं। इसलिये अब अवशिष्ट रहे 'कर्म' ये हरएकको अवश्यमेव करने चाहिये।

कर्म वे हैं कि जो समाज, समष्टि, तथा राष्ट्रकी उत्थतिके लिये साधक होते हैं। सर्वजनहितकारक कर्म, जनताकी उत्थानके लिये आवश्यक तथा साधक कर्म। जैसा नगरका आराम्य संरक्षण, सवत्रनेक शिक्षण आदि सर्वजनहितके अनेकानेक कर्म इस कर्ममें आते हैं। इनका ही नाम यज्ञ है। ये भी श्रेष्ठतम कर्म होनेयोग्य करने चाहिये। कर्म, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म ऐसे इन कर्मोंमें भेद है। यत्न ऐसा करना चाहिये कि अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म हो उत्तमसे उत्तम कर्म पूर्ण कुशलताके साथ उत्तम त्यागभावसे करने चाहिये।

ऐसे कर्म करनेका नाम ही कर्मयोग है। इसका आचरण करना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य ही है। इनके करनेसे ही मनुष्य कृतकृत्य होता है। सार्वजनिकहितके कर्म करना इस तरह प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है। ये कर्म करनेका आदेश यहाँ दिया है।

राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी शासन-व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे मनुष्य अवनतिकारक विकर्म न करे। यदि कोई करे तो उसको राज्यशासन द्वारा योग्य दण्ड दिया जावे जिससे अन्य लोग वैसा हानिकारक कर्म न करें। प्रत्येकके अस्तित्वके लिये आवश्यक स्नान-भोजन आदि अकर्म प्रत्येक करे। इसमें कोई बाधा न खाले ऐसा करना राज्यशासनका कर्तव्य है। प्रत्येकको, रहनेके लिये स्थान हो, स्नानके लिये योग्य अन्न हो, ओढ़ने पहनेके लिये

यज्ञमिह, अर्घ्येति मिह योग्य काममिह और कार्यं करणेन योग्य काम
यौ मिहो वीमार इत्येकं तेषामर्थार्थं अर्थार्थमिहो वाप्य नमस्ते विद्वान्
मिहो यन्मोदयते तेने अन्तरमिहो आनन्दप्रदमिहो, इति एतद् अ-
न्यथा नमस्ते कार्यं करणं रीतिरिति च त्रैलोक्ये हीने काम्यं सर्वत्र राजप्राप्तत्वा
इति हो भोर् योग्यं यत्पुत्र इव आनन्दप्रदमिहोने वर्तितं च रहे । इत्येवैवमपि
राजप्राप्तमिहो इति ।

इति एतद् अर्थेन अर्थमिहो न किञ्चिदुत्तरं कार्यं कुर्वन् योग्य
नमस्ते कार्यं करणं १ कथा करणं मिह अर्घ्येति अर्थं करणं रहे ।
अर्थे कार्यं ही एतद्—पुत्रप्राप्तिं कथा करणं चार्थिव । यह कथा हस्तप्रद कर और
योग्य कथा वर्तमाने अर्थेन च कर कथा ऐवैव राजप्राप्तत्वा इति ।

अथ मिहान्त— शीर्षोपु बभौ ॥

७ त्रिभीविपेच्छतं सुयाः ।

आ वर्गं अर्थमिहो इत्यन्तं चरणं करे ।

(७) अथपुत्री हीनेकी मन्त्रप्राप्तिका अर्थेन करण करणी चार्थिव । आन
न्द अन्तरमिहो वीमार का अर्थमिहो वाप्य नमस्ते इति । अर्थी आन
न्दमिहो दे कि 'अन्तरमिहो वीमार' का अर्थमिहो दे अर्थ मन्त्रा अर्थमिहो
दे । यह अर्थमिहो अर्थमिहो दे । अर्थमिहो वाप्य नमस्ते और मन्त्रो वीमार
ही वर्ग अर्थमिहो वीमार । वर्ग अर्थमिहो करणं रणुना और ही वर्गमिहो
वीमार अर्थमिहो रणुना देने अर्थमिहो मन्त्रा अर्थमिहो करणं करणं चार्थिव ।
वीमार अर्थमिहो करणं दे मन्त्रा अर्थमिहो करणं दे । अर्थमिहो अर्थमिहो वीमार
मन्त्रा इति । और अर्थमिहो वीमार च अर्थमिहो वीमार हीने हीने ।

अर्थ (अर्थमिहो वीमार) ही वर्ग अर्थमिहो इत्यन्तं चरणं करे ऐव
कथा है अर्थमिहो अर्थमिहो १ वर्ग अर्थमिहो वीमार । अर्थमिहो अर्थ
मन्त्रा करणं दे अर्थमिहो अर्थमिहो करणं करणं और वीमार अर्थमिहो
अर्थमिहो हीने । ८ अर्थमिहो वीमार और अर्थमिहो वीमार १२ अर्थमिहो अर्थमिहो

अर्थात् विद्याभ्ययनकी आयु मिलकर २० वर्ष होते हैं । इस बातसे वर्ष मनुष्य विद्वान् और अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्तिसे अपना भविष्य बनानेवाला दाता है । अतः ये २० वर्ष और १०० वर्ष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी आयु मिलकर १२० वर्षकी आयु होता है । २० वर्ष दानेपर ही तो वर्ष में जोड़ना और उससे पारिले नहीं मरना ऐसी इच्छा मनुष्य कर सकता है । इस तरह मानव आयु १२० वर्षकी है । फलज्योतिष जन्मपत्री बताते हैं वे विद्योत्तरी (१२० वर्ष आयु) मानकर करते हैं । दूसरा गणित अष्टोत्तरी (१०८ वर्षकी आयु) मान कर लिया जाता है । इस तरह १०८ या १२० वर्षकी आयु सामान्यतः ज्योतिषमें मानी है । इसलिये १०० वर्षकी आयु अपनी दो एकां इच्छा मनुष्य तरुण घननपर करे यह इस मन्त्र द्वारा कहा है ।

वैदिक समयमें फर्ड लोग १५० या १७० वर्ष भी जीवित रहते थे और कई ७० या ८० वर्षमें यह शरीर छोड़ते थे । इस तरह औसद आयु राष्ट्रके वीरोंकी १०० वर्षकी होती है । राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी सुचारु व्यवस्था होनी चाहिये, कि राष्ट्रके प्रजाजनोंकी औसद आयु १०० वर्षकी बने ।

इस समय भारत वर्षके लोगोंकी औसद आयु २५ वर्षकी है, यूरोप अमेरिकामें यह ६७ वर्षकी है । वैदिक राज्यशासनमें यह औसद आयु १०० वर्षकी थी । राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी औसद आयु बढ़ जाता है ।

बालमृत्यु, अल्प आयुमें मृत्यु तथा अकाल मृत्युका उत्तरदायित्व राज्यशासन-पर सर्वथा है । अकेली ब्यक्ति इस विषयमें कुछ कर नहीं सकती । राष्ट्रका आभोग्य सर्वधन, राष्ट्रका जीवनक्रम, राष्ट्रमें शान्ति, राष्ट्रमें धर्मका आचार तथा शील जितना होगा, उतनी आयु राष्ट्रकी बढ़ सकती है ।

राष्ट्रका शासन-प्रबंध ऐसा होना चाहिये कि जिससे राष्ट्र पुरुषोंकी आयु बढ़ती जाय और वह औसद १०० वर्ष तक पहुँच जाय । राज्यशासन ठीक है या नहीं यह इससे सिद्ध होसकता है ।

अथानुविधानम्—“संस्थापनी धारणा”

६ पाण स्वयं

ऐसा (आम) है। कन्वर (मिटर ली।)

(८) इस समय तक जो बात सिद्धांत को हमें जो आनेक दिने है
वे बातोंके जम्मा तब है। इस समय तक का काम सिद्ध है—(१) जिसमें
आत्मसमर्पण होता वही इस निष्पत्ति प्रमुख कर लया है (२) इस
निष्पत्ति संबंध का उत्तर आनेक रहती है यह संबंध लयायी तथा मुख्य है
और आनेक नयायी सेवा करनेके दिने है। आनेक मरती है वह सब अमर रहता
है (३) इसमेंने सर्वाधिक कथित है कि यह अपने मोक्षीय समाप्तित करनेके
होनेसे वह कर और वह करने की सर्वाधिक होना कथना स्वयं योग करे,
(४) और वही करण कादिने औरके वरण का दीन होते हैं (५) यह
समाप्तित है और वह का प्रत्यक्षीय दिष्ट करनेके दिने है, यह किसी की
सम्पत्ति का वही है (६) यह वस्तुमें समाप्तित करनेके दिने प्रमुख निमित्त
केवल करण करण है। आनेक को है और (७) प्रमुख की सर्व वस्तु
रहनेकी अन्तर्गत का वरण करे और सर्व वरण करण है। यह उत्पत्ति
करे इस प्रत्यक्ष का है।

कह जात मधरका नाम मनुष्यके जन्म-परम्परे छुमिर रहे । किसी तरह मनुष्य इन्का न भूके । इस पिछानती-वद जन्मक भय रहके जीव इन्का पासक कारबेकी पराजिता करे । इन्केके मर्त्यक की लम्बा समझकी लम्बी कहति होय ।

पञ्चमालायाः सायं हेतुः सुखस्य एवम् अथ हि विद्यते इव विद्वान्तेषु
पञ्चमालायाः सायं हेतुः सुखस्य एवम् अथ हि विद्यते इव विद्वान्तेषु

बन्धन विग्रहणः स्वस्थं मार्गं लब्धिं दे । ॥

१ नान्यथाऽपि

(तिष्ठः धर्म्यया नास्ति)

इससे भिन्न भवतिग सुख। मार्ग नहीं है।

(१) पूर्वोक्त आठ सिद्धान्तोंके द्वारा निम्न मानक चरित्रों को बनाई गई है।

उससे विभिन्न दूसरा कोई मार्ग मानवी उन्नतिके लिये नहीं है ऐसा मानना । यहाँ भी मार्ग है और दूसरा भा है, सभी मार्ग वहीं पहुँचते हैं ऐसे गोरुमाल विचार मनमें रखने नहीं चाहिये । इससे भ्रष्टाचार बल प्राप्त नहीं होता और किसी भी मार्गपर विश्वास नहीं बैठता । इसलिये 'यही अष्टविध धर्ममार्ग मानवी उन्नतिके लिये है, इसमें भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना मानवी समाजके हितके लिये और उससे सघटनके लिये अत्यंत आवश्यक है ।

सब मार्ग वहाँ पहुँचाते हैं ऐसा मानना भी एक भ्रम है । इस भ्रमको दूर करना चाहिये । मानवी उन्नति का यही एक मार्ग है इसमें भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना ही याग्य है । यह पुरुषार्थ प्रयत्नका मार्ग है । यहाँ तक नौ सिद्धान्त कह, दसवाँ भी एक है वह अब देखें—

दशम सिद्धान्त = 'सत्कर्मका प्रभाव'

१० न कर्म लिप्यते नर ॥२॥

'कर्मका लेप नरको नहीं लगता ।'

(१०) कर्मके तीन भेद इसमें पूर्व (छठे सिद्धान्तके विवरणमें) बताये हैं । 'विकर्म' हानिकारक होनेसे करने नहीं चाहिये 'अकर्म' व्यक्तिके अस्तित्वके लिये आवश्यक होनेसे करने ही चाहिये । इनमें व्यक्ति समाज—पेशा करनेके लिये समर्थ हाती है इसलिये इनको करना आवश्यक है । सर्वजन-हितकारी जो हैं वे ही 'कर्म' कहलाते हैं । ये अवश्य करने चाहिये । कई लोग कहते हैं कि सभी कर्मोंका लेप मनुष्यको लगता है यह सत्य नहीं है । सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे नरको कोई दाष नहीं लगता, इस दशम सिद्धान्तपर भी विश्वास रखना चाहिये ।

सर्वजनहितकारी कर्म मनुष्यको अवश्य करने चाहिये । इनको त्यागना नहीं चाहिये । इनको उत्तमसे उत्तम विधिसे करना चाहिये । इनके करनेसे मनुष्यका दोष नहीं लगता । हानिकारक विरुद्ध कर्म करनेसे मनुष्य दोषी होता है, व्यक्तिगत कर्म करनेसे व्यक्तिका सुधार होता है और सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नही लगता ।

कहीं पर भी शीत नहीं लगना देना पड़ा है। प्रत्येक शीत नहीं लगता देना नहीं पड़ा। अ-र (अन्तरा) का जोकाय नहीं लगना वह पर है। शीतल को जात्यक नहीं जाता, वह कभी वृत्तान्त सर्वव्यापितकारी नहीं करता है जब कभीकि वृत्तान्त शीत नहीं लगता। कभीकभी सुते निम्नस्थ वह तात्पर्य है।

महात्म्य इस निष्ठामय काम्य पर्यवेक्ष्य है । वे ही काम्योक्तियों में सिद्धांत है । इनके अन्तर्गत कार्यान्वितों का अन्तर्गत है और काम्योक्तियों में मातृका की कथा कथिता है । अतः इस मातृका की कथा कथा कथा है—

हार्नो मायोडी हलना

वसुधैव कुटुम्बकम्

१ ईश्वर अपने मन्त्रार्थसे इस विष्णुपर कायम करता है (अमरत्वका कारण) मन्त्रार्थसे निश्चय अभिज्ञान करता है ।)

२ इस विषयमें समाधिमें आना है
अर्थात् इहलोक है । समाधि आनन्द है
नहीं । आनन्द भवन है । समाधिमें
विलय भिन्न समाधिमें होता आनन्द भिन्न
है । और समाधिमें समाधिना लोका
हीना भिन्न है । समाधि-भक्ति-आनन्द
हीना आनन्द है ।

१. समष्टि-व्यष्टिगत लक्षितव्यता पर
देहे भिन्ने लक्ष्यते जीव कथा यत्र
काहे जो लक्ष्यते (हेमा चन्द्रप्र एवम्
लक्षण कथा ।

पञ्चमिका मास

१ ईसाब्द ७१ ई। ज्ञाना की यह
पंचमई अष्टमशतक ईसा। यह निबन्ध
अनेक प्रतिनिधिपत्र द्वारा इस निबन्ध
अनेक प्रकाशित है।

१ अमरिणी संस्कृत्य काले ध्वनि-
तत्त्वत्वात् ननु कदा कदा
ध्वनितत्त्वत्वात् ननु १ तत्त्व-
त्वात् ननु कदा कदा ननु ननु
तत्त्वत्वात् ननु ननु ननु ननु ।

३. संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में
मोक्षोपर्यन्त अर्थात् यज्ञ, तपः, दान-
कर्मों की व्यवस्था करना।

४ लोभका त्याग करना ।

५ धन समष्टिका है, प्रजापालक सत्स्याका धन है, प्रजा पालनके लिये धन है, व्यक्तिका धन नहीं है ऐसा मानना । व्यक्ति विश्वस्त रूपसे धन अपने पास रखे, पर उसका उपयोग समष्टिके हितके लिये करे ।

६ इस जन्ममें श्रेष्ठतम कर्म करना । ये कर्म सर्वजनहितके लिये करते रहना ।

७ सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करना, इस दीर्घायुमें शुभ कर्म करते रहना ।

८ पूर्वोक्त विचार मनमें स्थिर रखना ।

९ इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना ।

१० श्रेष्ठ कर्मका लेप नहीं लगता ऐसा मानना ।

यहां दो तालिकाएँ दी हैं । एकमें मानवी उन्नतिके दस सिद्धान्त दिये हैं, और उसके सामने दूसरे कोष्टकमें मानवकी अधोगति करनेवाले दस मत दिये हैं । मानवी उन्नतिके इन दस सिद्धान्तोंसे मनुष्य समाजकी सच्ची उन्नति होनेके लिये, इन सिद्धान्तोंको व्यवहारमें लानेके लिये सदा कटिबद्ध रहनेवाली आध्यात्मिक राज्यशासन प्रणालीही राष्ट्रके शासन कार्यमें प्रयुक्त होनी चाहिये । अध्यात्मके सिद्धान्तोंपर जिसकी रचना हुई है ऐसा राज्यशासन प्रणाली ही संपूर्ण राष्ट्रका तथा संपूर्ण मानवसमाजका उद्धार कर सकेगी । इसका स्वरूप संक्षेपसे अब देत हैं—

४ लोभको बढ़ाते जाना ।

५ व्यापक धन है, व्यक्ति अपने पास धन—मंप्रह कासा रहे । धनकी पूजा अपने पास बढ़ाते जाना और समष्टिके हित के लिये धनका दान न करना ।

६ स्वार्थभोग बढानेके लिये कर्म करना ।

७ संसारको क्षणभंगुर मानकर कर्मका त्याग करना ।

८ किसी विचारपर मन स्थिर न रखना ।

९ सब मार्ग प्राप्तव्य स्थानपर पहुँचाते हैं ऐसा भ्रान्त विचार मनमें रखना ।

१० सब कर्म धनकारक हैं ऐसा मानना और कर्म छोड़ना ।

अध्यात्माभिहित राज्यशासनके तत्त्व (वैयक्तिक तथा सामाजिक)

(१) समर्थ मनुष्य अपना समर्थ समाज इस विश्व पर अपना प्रभाव स्थापन कर सकता है। वह मनुष्य व्यक्तिगत समर्थको वास्तविक अपना राज्य प्रभावशाली करता हो तो उसे विश्वके सब अधिकार रखकर अपना संयोजन करना चाहिये। कदाचित् एक व्यक्ति विशेष प्रभावी बन भी सकता है और वहका प्रभाव विश्वपर पड़ भी सकता है, पर यदि समाज वास्ति या राष्ट्रको प्रभावशाली करता हो तो वह अपने राज्यशासन-व्यवस्थाएँ ही हो सकता है। ऐसा सुसंयोजित समाज समस्त विश्वपर अपना प्रभाव बना सकता है।

(२) व्यक्ति तथा समाजका परस्पर सहकार्यसे विश्व हीना चाहिये। व्यक्ति अपना जीवन समाजके हित करनेके लिये देने और समाज व्यक्तिको सुसंयोजित रखे। वह राज्यशासन-व्यवस्थाएँ ही होनीचाली कर्तव्य है। व्यक्ति स्वार्थी बनकर अपना विश्वास कर लेनेवाली समाज भी अपने स्वार्थके लिये संयोजित होकर अपना सब बड़ा करेगा। पर व्यक्ति और समाजका सम विश्वास करना ही तो वह अपने सुयोग्य राज्यशासनके प्रबंधसे ही हो सकता है।

(३-४) स्वार्थसे श्रेष्ठता और शोभा स्थापने तत्त्व वैयक्तिक आधारकी कल्पना साधते हैं। पर यदि वैयक्तिकताके राष्ट्रीय नियोजनके द्वारा व्यवहारमें आने लगे तो वे राष्ट्रके विश्वसे लिये अधिक उत्तम हो सकते हैं।

(५) जब सबका सम प्रभावशाली है, किसी एक व्यक्तिका वरपर अधिकार नहीं है। प्रजापति या सर्व प्रजाका राज्य करनेवाली संस्था है। इसकी नाम राज्यशासन करनेवाली संस्था है। इसको का भी कहते हैं। का का सर्व कुछ है। वह राज्यशासन व्यवस्थाके कुछ है। इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं। राष्ट्रका सम सब इस प्रजापति संस्थाका है। इस वक्तो लगे अधिकारों साभर करनेके लिये कर्तव्यसे सम व्यवस्था नियोजन व्यवस्था लगे व्यवस्था लगे व्यवस्था हीनेके मार्ग लगे लगे लगे

रखना और किसीकी उन्नतिमें रुकावट न होने देना यह राज्यव्यवस्थाके प्रबंधसे ही होनेवाला कार्य है । कोई एक व्यक्ति यह नहीं कर सकती ।

(६-७) मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करें और १०० वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करें । राष्ट्रकी आयुष्य वृद्धि करनेका कार्य तो राज्यशासन प्रबंधसे ही हो सकता है । राष्ट्रके आरोग्यकी वृद्धि करना, राष्ट्रमेंसे रोगोंको हटाना, जनताकी कार्यक्षमता बढ़ाना, उनके द्वारा श्रेष्ठतम कार्य होनेकी व्यवस्था करना, जनतामें धैर्य और बड़े कार्य करनेका सामर्थ्य विकसित करना यह सब राष्ट्रशासनके सुप्रबंधसे ही हो सकता है । राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी जनताकी आयु १०० वर्षोंकी हो सकती है । एक एक व्यक्ति कितने भी नियमोंका पालन करती रहेगी तो भी वह राष्ट्र शासनके सुप्रबंधके समान कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकती । केवल किसीकी कम्पनासे ही मनुष्य १०० वर्ष जीवित नहीं रह सकता और कोई व्यक्तिको वैसी आयु प्राप्त हुई तो भी उसमें कुछ विशेष लाभ नहीं । यहां तो राष्ट्रकी औसत आयु १०० वर्षकी होनी चाहिये । यह कार्य राष्ट्रके प्रबंधसे ही हो सकता है ।

(८-१०) ये पूर्वोक्त तत्त्व विचार ध्यानमें धारण करने और इससे भिन्न दूसरे कोई विचार मानवोंकी उन्नति करनेवाले नहीं है ऐसा मानना चाहिये । यह ऐसी श्रद्धा बनी रहनी चाहिये । इसी तरह सबजनाहेतकारी श्रेष्ठ कर्म मनुष्यको दोष नहीं लगते यह भी जानना चाहिये । यह तो व्यक्ति भी कर सकती है, पर राष्ट्रकी जनतामें ऐसा विचारोंका परिवर्तन करना हो तो वह काय राष्ट्रकी शिक्षा में ही ओजस्वी विचारोंका समावेश करनेसे ही हो सकता है । अर्थात् यह राज्यशासनके सुप्रबंधसे हो सकता है ।

यहां तक बताया गया कि पूर्वोक्त दश तत्त्वोंका वैयक्तिक रीतिसे कितना पालन हो सकता है और राष्ट्रीय शासन द्वारा कितना कार्य हो सकता है । व्याक्तसे होनेवाला कार्य अल्प और राज्यशासन द्वारा होनेवाला महान् और स्थायी है ।

[illegible]

आधुनिक समयमें प पू मरतना गोपीबंनिए सल कर्मिछा असेव, कर्मर
मइ धारि भिन्न राखीन छाये कर्मिछा सफल भिना । ने राज्यशासनमें
इसल समवेक करल कहते ने पर कह क्या बर्हि । अतिगभीर समर्प
श्री ज्येष्ठने अल राजवशासनमें इसल बडे अमलमें प्रवेश भिना का ऐल
अनके श्रीलक्षि पला अमल है । (बेको असेव पुरल) ऐल ॥ अमल
अगवान् भीष्मजीने भिना का ऐल अतीव होल है । इसल नाम "मागदठ
राज्यशासन" है । अमलमें अने कर्म करे और राज्यशासनमें इन
अनका योगसेव कहल कह (योगसेम पाहामि भई) इनके अतिमें
होखल है । पर कह जामे कल न सदा और इसके क्षेत्र अमल ॥
सदा पर उरैर है ।

ईश्वरके जो गुण वैद्यशास्त्रमें कहे हैं वे राष्ट्रियधर्ममें हीचके आदिमें कबोकि राष्ट्रियधर्म भी ईश्वरका अंग ही है। और मनुष्यमें जो जन्म लेखके हीचके आदिमें कबोकि वस्त्रा आत्मन कर्मवशात्ता है। वरमें तथा आत्मनमें गुनीधर्म जन्म है। राष्ट्रियधर्ममें तो यह जन्म विशेष ही रचना आदिमें कबोकि वस्त्रा जन्मके मन्त्रिकके साथ वस्त्रा लेख है। वरमेंधर जिन गुणोंमें निपट्टा आत्मन कर रहा है। वन कुम्हारों ही राष्ट्रियधर्म राष्ट्रियधर्म जन्मों मन्त्रात्ता आत्मन कर रहा है। वन जन्मोंधर्मिकित राष्ट्रियधर्मका भूत है। इन्हीं ईश्वरके वरमेंके जन्म भी वस्त्रा राष्ट्रियधर्मका भी वरमें करते हैं यह स्पष्ट है। वाता है।

इस इंशोपनिषद्में (इंश) शासक, (यम) नियामक, सरक्षक, (प्राजापत्य) प्रजापालक, प्रजापति ये शब्द जैसे ईश्वरके वैसे ही राज्यशासकके भी वाचक हैं । ईश्वरके गुण इसी कारण राज्यशासकके गुण करके विचार करने योग्य हैं । इस तरह अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त बहुत अंशसे राज्यशासनमें कैसे परिवर्तित हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है ।

अब ऊपर जो दशविध उन्नतिका मार्ग फल, उससे न जानेवाले आत्मघातकी लोगोंकी कैसी दुर्दशा होती है यह देखिये । यह अवनतिका दशविध आत्मघातका मार्ग पूर्व स्थानमें थोड़ाकरके दिया है —

ग्यारहवा सिद्धान्त = “आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति”

११ असुर्या नाम ते लोका

अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति

ये के चात्महनो जना ॥ ३ ॥

‘जो कोई आत्मघातकी लोग होते हैं वे अन्धकारसे व्याप्त आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं अर्थात् वे उनमें जन्म लेते हैं ।’

(११) आत्मघातके मार्गसे जानेवाले लोग आसुरी सपत्तिके गुण्डलोगोंमें गिने जाते हैं । ईश्वरी योजनासे मरनेके बाद भी वे आसुरी गुण्डलोगोंमें जन्म लेते हैं ।

राज्य शासनके प्रयत्नसे ऐसे दुष्ट लोगोंकी गणना गुण्डोंमें होने योग्य है । इस तरह इनकी गणना गुण्डोंमें होनेसे संपूर्ण जनताको पता लगेगा कि ये गुण्ड हैं और इनसे सावधान रहना चाहिये । गुण्डोंमें इनकी गणना होनेसे अन्य सभ्योंकी नागरिकत्वके जो अधिकार होते हैं, वे इनको नहीं रहेंगे, इससे इनको अपना सुधार करनेका उत्साह उत्पन्न होगा और वे अपना सुधार करके नागरिकत्व के सब अधिकार प्राप्त कर सकेंगे ।

विश्व लच्छ ईश्वरी भिक्कयणे आसुरी कोपेमें जन्मे जीव मी बन्धन पुकार करके ईश्वी संघर्षिताली दुष्प्र कर्मोंमें जन्म देने योग्य होते हैं, जहाँ लच्छ राज्य प्रबंधमें भी समझना योग्य है । ईश्वरी भिक्कयापुकार जन्मान्तरमें विद्वत्प्रा और बलवत्प्रा होती है और राज्य प्रबंधमें इसी जन्ममें गिरावट या पुकार होता है । राज्य व्यवस्थामें पुकार करनेवालोंकी योग्य व्यवहार भिक्क्या ही पद्धतिने विश्व जन्ममें पुकार करकेका लोचन मिले और वे पुकारें । इस विषयके योग्य भिक्क राजव्यवस्थाका प्रबंध करनेवाके करें और लच्छलच्छ राज्यप्रबंध करें ।

यहाँ बाह्यचरित्रों द्वारा की गई समीक्षा केसी होती है वह ज्ञानदा इच्छा
उत्पत्तिशील चरित्रोंकी समीक्षा पूर्वोक्त वर्गीकरण केसी होती है इसका ज्ञान
होना ।

द्वितीय प्रकरण

पूर्व प्रकरणों में हमें ज्ञात है कि राज्यपाल की कसौटी पर आने वाले व्यक्तियों का निर्णय करने में राज्यपाल की भूमिका क्या है—

पुनः ईशगुणोक्ता वर्णन

सत्यमेव जयते = सत्यमपराधीकरण

१२ अनेयसु

(क) संश्लेषण की है।

(१२) ईश ईश्वर ब्रह्म, प्रमाणाति कम ब्रह्म, ब्रह्मका ज्ञानमात्र प्रमाणाति से कम ब्रह्म एक आदि तरकीब का प्रमाण है। इसीका सर्वत्र ब्रह्म के प्रमाणों में ईश ब्रह्मका प्रमाण है। यह ईश्वर ब्रह्मके अनेक प्रमाणोंका है इसलिये हम पर ब्रह्म करार है। ब्रह्मके कोई अनेक प्रमाणोंका नहीं है बल्कि यह सिद्धीके मजबूती नहीं होता और सिद्धीके ईश्वर का प्रमाण भी नहीं। प्रमाणों तो एक हीका कम ब्रह्मके कोई अनेक प्रमाणोंका प्रमाण ब्रह्मके प्रमाणोंका प्रमाण और ब्रह्मके प्रमाणोंका प्रमाण भी न ब्रह्म है। प्रमाणों तो नहीं नहीं है इसलिये यह सिद्धीके प्रमाणोंका प्रमाण नहीं।

जो सर्वत्र नहीं होगा वह हिल सकता है । जो सब जगह होगा वह नहीं कांप सकता । जो हिल नहीं सकता वह कांपेगा कैसे ?

इस मन्त्रमें तथा इसके आगेके मन्त्रमें ईशवाचक शब्द नपुसक लिंगमें हैं । प्रथम मन्त्रका 'ईश' पद पुल्लिङ्गी है । इस सूक्तमें एक ही आदि तत्त्वका वर्णन करने वाले पद पुल्लिङ्ग और नपुसक लिंगमें हैं । इससे सिद्ध होता है कि अनेक लिंगोंके पदोंसे इस आदि तत्त्वका वर्णन होता है । अतः इस लिंग भेदको देख कर धारानेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

राज्यके अधिकारी तथा शासन यत्र ऐसा प्रचल हो कि जो शत्रुको देखकर न कांप उठे । अन्दरके गुणोंसे भी न डरे । सब राज्यके होने कोनेमें उसका शासन अच्छी तरह चलता रहे और किसी तरह किसी जगह निर्बल न हो, सर्वत्र प्रचल रहे । किसीसे न डरे, किसीके सामने न कांप उठे किसीके सामने न झुके और सबसे अधिक प्रभावशाली रहे । शासक अधिकारी किसीके दूरसे अपने कर्तव्यमें कसूर न करें । किसीसे न डरते हुए अपना कर्तव्य निर्भयतासे करते रहें ।

तेरहवां सिद्धान्त = "अद्वितीयत्व"

१३ एकम्

' (वह) एक है, वह अद्वितीय है । '

(१३) वह ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, उसके समान दूसरा नहीं है । उसके सामर्थ्यके समान सामर्थ्य किसी दूसरेके पास नहीं है । वह अप्रतिम है ।

राज्यशासनमें भी जो शासक होगा वह अद्वितीय होना चाहिये । उसके समान दूसरा कोई नहीं, ऐसा वह अप्रतिम होना चाहिये (शासनाध्यक्ष) मंत्री, अधिकारी, सेनापति आदि स्थानोंके लिये जिनकी नियुक्ति होनी हो वे अधिकारी उन उन स्थानोंके लिये अद्वितीय होने चाहिये । उस समय उस राष्ट्रमें उनके समान उस स्थानके लिये योग्य दूसरा कोई नहीं, ऐसे पुरुषोंकी नियुक्ति उन उन स्थानोंके लिये होनी चाहिये । प्रत्येक अधिकारके स्थानके लिये यही नियम होना चाहिये तभी सब स्थानोंके लिये शुण कर्म स्वभावसे सुयोग्य अधिकारी मिलेंगे

व्यवहार निम्नप्रतिबध उत्तम रीतिसे चलते रहे, पर सभी ऐसा न हो कि शासक केन्द्रपर भी कोई आप्रमण कर सके । गुण्डोंका आक्रमण, रिश्वतमोरी, भोति चताकर गुण्डोंका दबाव और सर्वस्वापहार, अथवा शासन केन्द्रका भयसे परिवर्तन न हो सके । शासन केन्द्र सदा जाग्रत प्रभावी तथा कार्यक्षम रहे । गुण्डोंका आक्रमण होनेके पूर्व ही वहा सुरक्षाका प्रयत्न उत्तममे उत्तम रहे ।

सोलहवा सिद्धान्त = "प्राचीन परंपरापर आश्रित "

१६ पूर्वम्

' (वह ब्रह्म सबसे) पूर्व है, सबके पूर्व विद्यमान है । '

(१६) 'पूर्व'का अर्थ 'प्राचीन' पूर्व समयसे उपस्थित, शाश्वत, सदा रहनेवाला और पूर्ण । ' ब्रह्म सबसे प्राचीन है, पूर्व समयसे है, सर्वत्र उपस्थित है, शाश्वत है, सदा रहनेवाला है और परिपूर्ण है ।

राज्यशासन भी सबसे परिपूर्ण, प्रथमसे उत्तम, पूर्व समयसे एक जैसा चला आया, शाश्वत टिकनेवाला, बारबार न बदलनेवाला, चञ्चलतासे रहित हो । सतत समान रूपसे चलनेवाला हो । किसी एककी इच्छासे बदलबदल उसमें न हो । समान रूपसे शासन चलता रहे । प्राचीन परंपरा प्राचीन सभ्यतापर आश्रित हो ।

सतरहवाँ सिद्धान्त = स्फूर्तियुक्त 'ज्ञान दान'

१७ अशत्

(वह ब्रह्म) गतिमान और ज्ञानपूर्ण है ।

(१७) 'अशत् वा अपर्यत् ' का अर्थ 'गतिमान, चालक, प्रेरक, स्फूर्ति देनेवाला, ज्ञानवान् ' है । ब्रह्म सपूर्ण विश्वको प्रेरणा, स्फूर्ति और चालना देता है, सबकी प्रगति करता है । सबको ज्ञान देता है उन्नति करनेके लिये वही प्रेरणा देता है उत्साह उत्पन्न करता है ।

राज्यशासन भी ऐसा होना चाहिये कि जिससे जनताके सब शुभ व्यवहारोंको उत्तेजना मिले, स्फूर्ति मिले, संचालना होती रहे, प्रेरणा मिलती रहे और

किन्ती तरह निस्तब्ध न हो । अनेक हाथका प्रहार हो और सब छुप झुकनेकी
कोशिश करता रहे । एहमें असाहस्य वातुमन्त्रक रहे और निराशाका नाम भी
न रहे ।

कठारखी निस्तब्ध = "अध्यात्मिका अनात्ममय"

१८ तबू पावतोऽन्यानस्येति ।

'तबू (तबू) अन्तः शौचनेपाशोंका कर्तव्य करके इनसे परे पहुँचता है ।

(१८) अन्तः परार्थ किन्तु भी शौचनेपाशोंके हुए, छे भी इनसे प्रथम इनसे
परे प्राप्त अधिक वाञ्छित होनेसे पहुँचा रहता है । कोई दूसरा परार्थ अपना
कर्तव्य नहीं कर सकता । 'अन्तः' का अर्थ 'पुत्ररा परकीय परदेशीय, विदेशीय
तबू हुए भी क्या दूसरा ही रहता है ।

एकदशात्मक व्यवस्था ऐसी उत्तम और परिपूर्ण होनी चाहिये कि कोई
(अन्तः) तबू हुए अन्तः परकीय कष्टका कष्टादि कर्तव्य न कर सके । जो
एहमें 'अन्तः, दूसरे परकीय विदेशीय, विदेशीय' के रूपमें रहते हैं, जाते हैं
कठिन तथा करतः चाहते हैं, उनके शौचनेपाशोंकी मित्ती पति हो । इनसे एहमें
आत्मकीय पति अधिक हो । अर्थात् वहाँ के शौचनेपाशोंका अन्तः परकीय
आत्मकीय पति हो । वहाँ के आत्म की वे पति हो । अर्थात् वहाँ
मित्रता परकीयका वैय हो । अर्थात् आत्मकीय वैय अधिक हो । मित्रता के आत्म-
कीय अधिकमय न कर सके । अतः अर्थात् आत्मकीय परकीय परकीय आत्म-
कीय- आत्मकीय कर्तव्य न कर सके । एहमें आत्मकीय आत्म परकीय आत्म-
कीय अधिक प्रमाणी हो ।

एहमें कोई (अन्तः) परकीय करके न रहे । जो रहे वे एहमें अन्तः परकीय
रहे । और जो परकीय करके आत्म की अन्तः पति आत्मकीय कर्तव्य करके
आत्म की और अधिक प्रमाणी मित्रता न हो । एहमें आत्मकीय अन्तः परकीय
वे परकीय रहे । आत्मकीय मित्रता न कर न सके ।

उपनिषदों सिद्धान्त = “ सुप्रतिष्ठित स्यैर्य ”

१९ तिष्ठत्

‘ (ब्रह्म ब्रह्म) स्थिर है , चञ्चल नहीं है । ’

(१९) ब्रह्म सर्वोपरिपूर्ण है इसलिये हिल नहीं सकता, अतएव वह सुस्थिर है । इस स्थिर ब्रह्मका आधार सपूर्ण विश्वको है । इसके आधारसे विश्व रचा है । ब्रह्म स्वयं स्यैर्यसे सुप्रतिष्ठित है ।

राज्यशासन भी स्थिररूपसे सबको आधार देनेवाला होना चाहिये । आज एक, कल दूसरा, परसू तीसरा ऐसी चञ्चलता उसमें नहीं होनी चाहिये । राज्य शासक एक स्थिर नीतिसे चलनेवाले होने चाहिये । राज्यशासनकी स्थिर नीति रहेगी, तो जनताके विश्वासके लिये वह पात्र होगा । राज्यशासन चञ्चलत्वादि दोषोंसे विरहित और स्यैर्यमें सुप्रतिष्ठित होना चाहिये ।

धीसवां सिद्धान्त = “ कर्मोंकी धारणा ”

२० तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

‘ उस (ब्रह्म) में वायु जलोंका धारण करता है । ’

(२०) ‘ आप ’ का अर्थ ‘ जल तथा कर्म ’ है, ‘ मातरिश्वा ’ का अर्थ वायु, प्राण और गर्भस्थ जीव (मातरि-श्वा) है । आकाशमें वायु मेघरूपी जलोंका धारण करता है, गर्भस्थ जीव पूर्वजन्मके कर्मोंका धारण करता है यह सब उस ब्रह्मके आधर्यसे ही हो रहा है । ब्रह्मके आधारसे जो शक्ति वायुमें रहती है, उससे वायु जलोंका धारण करनेमें समर्थ होता है । इसी तरह इसी शक्तिके नियोजनसे गर्भस्थ जीवके पूर्वजन्मकृत कर्म उसके साथ रहकर द्वितीय जन्ममें उसे मिलते हैं तथा उसके फलभी उसे मिलते हैं । कर्म विनिष्ट नहीं होते ।

इसी तरह राज्यशासनमें भी सब जनताके कर्मोंकी यथायोग्य धारणा होनी चाहिये और उनके फल उन कर्मोंके कर्ताको मिलने चाहिये । कुशल कर्ताको योग्य कर्म, योग्य कर्म योग्यरीतिसे करनेपर उसके सुयोग्य फल उसे मिलने चाहिये ।

कर्ताओं कर्म, कर्म करनेवाले सुयोग्य वच कर्ताओं विद्यमान चाहिये । ऐसा न हो कि कर्मकारी कर्म तो करें, पर कष्टका फल सुखका ही का काम और कर्ता संशयित ही रहे । कर्ताका कर्म योग्यतासिद्धि होता रहे, कर्म होनेपर कर्ता समय अवकाश सम-वात्तरसे भी कर्मों न हो । वर कर्ताओं कष्टके कर्मके अनुरूप फल अवश्य विद्यमान चाहिये । कर्मकर्ताओं कर्मफल प्राप्तिची विधिति होनी चाहिये । किन्ना कर्म कमी स्वर्ग प्राप्ता नहीं चाहिये ।

एकयोग्यो सिद्धान्त = स्थिर रहकर दूसरोंका संघाटकन

२१ तदेवमिति, तर्कमिति ।

यह (मद्रा कर्मों) कर्ताका है (पर) यह (मद्रा) स्वयं नहीं विद्यमान ।

(२१) यह मद्रा एक निश्चय संघाटकन कर रहा है पर यह स्वयं नहीं विद्यमान होता । स्वयं सुस्थिर रहनेवाला एक निश्चय संघाटकन करता है ।

इसी तरह राज्यशासन भी राज्यके एक कार्यकर्ताओंकी योग्य प्रेरणा देता रहे पर स्वयं अपनी पद्धतिपर सुस्थिर रह । राज्यवश कष्टका न रहे, पर जब राज्यमें स्फूर्ति देता रहे जब राज्यका कष्टका कष्टका । इसी तरह (तद् एवमिति) यह कर्तुमें कर्तावशक करे पर स्वयं न संशयित होने, कर्तुमें कराने और भवा देने पर स्वयं अपने स्वात्तमें न द्विष्टि ।

एवमिति का अर्थ संशयित होता है अप्रका है, कर्ताका है ऐका है । कर्ताका कर्मों पर स्वयं न करे ।

कार्यकर्ता सिद्धान्त = " दूर और पास समान

२२ तद् दूर तद् अन्तिके,

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य वास्तवः ॥ ५ ॥

यह (मद्रा) दूर है और यह कर्ताका भी है । यह दूर कर्मों के अन्तर है और यह दूर कर्मों के बाहर भी है ।

(२२) यह मद्रा देता दूर है देता ही कर्ताका भी है दूर और कर्ताका दूर देता है । यह अन्तर और बाहर एक देता है ।

राज्यशासन भी जैसा एक स्थानपर वैसा ही दूसरे स्थानपर रहे । केंद्रमें जैसा हो वैसा ही सुदूरवे प्रदेशमें भी हो । अधिकारीके पास न्याय मिले और अधिकारी दूर होनेपर अन्धकार हो ऐसा कभी न हो । कोनेसे दूसरे कोनेतक एक जैसा राज्य शासनका प्रबन्ध हो । मध्य केंद्रमें जैसा सुप्रबन्ध हो वैसा ही बाह्य प्रदेशमें भी उत्तम प्रबन्ध रहे अन्दर और बाहर समान रूपसे उत्तम प्रबन्ध हो । सर्वत्र समानतया जागरूक तथा अनुशासन युक्त अच्छा प्रबन्ध रहे ।

तेईसवों सिद्धान्त = “ परस्परावलंबित्व ”

२३ यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वंभूतेषु चात्मानं ततो न चिजुगुप्सति ॥ ६ ॥

‘ जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह इस ज्ञानके कारण किसीकी निंदा नहीं करता । ’

(२३) ब्रह्म या आत्मामें सब भूत हैं और सब भूतोंमें ब्रह्म या आत्मा है । ऐसा जो देखता है वह भूतोंको और आत्माको सर्वत्र देखनेके कारण, जहां जिसको वह देखता है वहां उसमें आत्मा और भूत दिखाई देते हैं; इस कारण, प्रत्येक स्थानमें भूतों और आत्माका उसको दर्शन होनेके कारण, वह किसीकी भी निंदा नहीं करता, क्योंकि अनिन्दनीय आत्मा सर्वत्र है और कोई पदार्थ उससे रहित नहीं है ऐसा देखनेके कारण वह किसी पदार्थ की निंदा नहीं कर सकता ।

राज्यशासनमें भी सब प्रजाजनोमें राज्यशासनकी प्रतिष्ठा है, कोई मनुष्य अपने राज्यशासन की अप्रतिष्ठा नहीं करता और राज्य शासन भी किसी व्यक्ति को रंग, रूप, जाति, प्रान्त, वर्ण, देशभेदके कारण दूर नहीं रखता, अर्थात् राज्य प्रबन्ध सबको समान रूपसे आदरणीय मानता है और सब लोग वे किसी दर्जामें हों, पर वे सबके सब राज्यशासनका अनुशासन मान्य करते हैं, आदर से शासनप्रबन्धको देखते हैं, वहां कौन किसकी निंदा करे और क्यों निंदा करे? राज्यशासन और जनतामें सामंजस्य होनेपर निंदा करनेका कारण ही नहीं रहता ।

जिस समय राजन राज्यका अधिकार प्रत्यापन्न होता है तब प्रत्यक्ष राज्यका अधिकार प्रत्यापन्न होता है और तबमें केवल अल्प होता है तब प्रत्यक्ष राज्यका अधिकार प्रत्यापन्न होता है। अन्तर्गत राजाधीन पक्ष जिसमें दोष रेखांक है तबमें निरा करता है पर अन्तर्गत प्रजा और शासन तब इस दोषोंमें तत्पर्यवस्य हो और वे दोषों परस्परके पोषक सहायक तथा हितवितक हों तब निरा करनेका करण ही नहीं करता होता ।

अन्तर्गत और अन्तर्गत सत्ता के दोनों अन्तर्गत समत ही परस्पर सहायक हों और परस्पर सहकार्य करेवाले हों तो ही राज्य कुछ होनेकी संभावना है ।

नीचीछोटी सिद्धांत = " एकान्तमनु प्रत्यक्ष

॥४॥ अस्मिन् सर्वाणि मृतानि अस्मैवाभ्युदयिष्यता ।

तत्र को मोहः का शोकः एकान्तमनु प्रत्यक्षता ॥ ७ ॥

जिस अन्तर्गतमें तब मृत जानीये किने जाया (ईश) ही हुए तब अन्तर्गतमें तब एकान्तमनु अन्तर्गतमें देखनेवालेके शोक भी होते होगा और मोह भी होते हो सकेगा ?

(२४) वह सब जिस अन्तर्गत ही निरूपण है ऐसा जिसके अन्तर्गत दर्शन हुआ तब किसी भी कारण शोक या मोह नहीं हो सकेगा । क्योंकि जिसके यह देखता है तबमें वह अन्तर्गत ही दर्शन करता है विभिन्न अन्तर्गतों एक अन्तर्गत दर्शन वह करता है । इस तरह जिसे अन्तर्गतमनु अन्तर्गत हुआ तबमें किसी भी अन्तर्गतमें मोह या शोक नहीं होते । मोह तो तब होगा जिस समय अन्तर्गत और अन्तर्गतमनु विचार करना पड़े शोक भी तब हो कि जिस समय अन्तर्गत दर्शन म हो । जब ऐसा नहीं होता और उदात्त चरित्र सर्वत्र अन्तर्गत ही दर्शन होता रहेगा तब शोक भी नहीं होगा और मोह भी नहीं होगा ।

राजवशासनमें भी जब प्रजा और राजवशासनमें विचारमात्र न होगा प्रजामें केवल राजवशासन सुरक्षित है ऐसा अन्तर्गत हीमा और राजवशासनमें प्रजा सुरक्षित है ऐसा अन्तर्गत हीमा तब प्रजा और शासनतंत्रमें कई

भिन्नता नहीं रहेगी, इसी अवस्थामें जो एकात्मताका दर्शन होगा उस समय किसीको शोक या मोह नहीं होंगे ।

जब राज्यशासन प्रमाके द्वारा, प्रजाके हितके लिये, प्रजाके प्रतिनिधियोंके द्वारा चलाया जायगा, तब यह राज्यतंत्र प्रजामें ही सुरक्षित रहेगा, उस समय प्रजा और राज्ययंत्र एक ही होगा । यही राजकीय एकात्मताकी प्रतीति है । जहां पूर्णरूपसे एकात्मता होगी, अर्थात् जहां राज्ययंत्र और प्रजा एक रूपमें रहेगी वहां किसीको भी मोह नहीं होगा और शोक भी नहीं होगा ।

जब प्रजा और राज्ययंत्रमें संपर्क होगा, विद्वेष होगा, परस्पर हानने भित्त-नेकी स्पर्धा होगी तब किसीको अपने कर्तव्य अर्कव्ययके विषयमें मोह होगा और अपवृत्त्य होनेके कारण शोक करनेका भी प्रसंग होगा । पर जहां प्रजा और राज्ययंत्र एकरूप होंगे, प्रजा ही राज्यशासन निर्माण करनेवाली होगी और राज्यशासकों द्वारा जो होगा यह प्रजाने ही किया ऐसा होगा जब ऐसी एकात्मताकी अवस्थामें उस राज्यशासनमें किसीको भी मोह या शोक कभी नहीं होंगे ।

तृतीय प्रकरण

पुन आत्माके गुणोंका घणन करते हैं—

पञ्चीसवाँ सिद्धान्त = “ शारीरिक दोषोंसे विधन न हों ”

२५ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्

‘वह आत्मा बलपूर्वक शरीर-व्रण-स्नायु रहित रहता हुआ सर्वत्र व्यापता है ।’

(२५) आत्मा (शुक्र) बलयुक्त होकर तथा देह-व्रण-स्नायुके सबधसे विरहित होकर सर्वत्र व्यापता है, सर्वत्र फैला है, सबको घेरता है, सबपर शासन करता है, सबपर अपना अधिकार चलाता है ।

राज्यशासन चलानेवाला राजपुरुष भी बलिष्ठ वा सार्थवान् होकर अपना राज्यशासनक^१ कर्तव्य करे, तथा शारीरिक तथा स्नायुओंके व्रणदि दोषों

नौर ऐंतिङ्ग कारण अपने कर्तव्य करनेमें निष्पन्न होते हैं । राज्यके अधिकारी राजपुत्र कीरसे कुछ स्नातुमें निर्योग तथा मन्त्रिरी शोचोसे विरहित रहे अपने कीर स्वास्थ्य कथम रहे और कीरशोचोके कारण कोई अधिकारी अपने कर्तव्यमें किञ्चित् असमर्थ नवना हुआ न हो । किसी भी कारीरिक स्वभावे कारण राज्यशासनका कार्य बंद न रहे । एक अधिकारी अपना कर्तव्य करनेमें क्या व्यर्थ रहे । राज्यशासनका प्रथम ऐसे सामर्थ्य संयुक्त अधिकारियोंके द्वारा कार्य राहुनामें व्यापक हो सत्वर शासन सयत्नस्वसे चलावे और सब पर कष्टका वचित प्रमाण प्रस्थापित होना रहे ।

अर्थव्यवस्था विद्यान्त = 'पवित्रता रहे ।

२६ सुद्ध अथापविद्धम्

यह सुद्ध और निष्पाप रहितसे (सर्वत्र व्यापक है) ।

(२६) अथा सुद्ध तथा निष्पाप कसे सर्व निर्योग व्यापक है । यह निष्पाप जगत् वास्ते अपना अवधिप्रकासे कमलित नहीं होना ।

राज्यशासन तथा राज्यकायक करनेवाके राजपुत्र भी किसी तरह पाते तथा अङ्गुष्ठ स्वरुहसे अपना सर्वत्र न रहे । वे परिकुष्ट स्वरुह करें और पाते करा दूर रहे । राज्यकायक शिल्पक की, प्रज्ञाचार, नीचाचार, स्वीमचार, हुणचार आदिमें क्या दूर रहे और राज्यशासन परिकुष्ट रहे । अन्तर्नि विही तादृश कष्टक स्वशासनका अपना राजपुत्रों पर न जाने ऐसा स्वरुह दक्षतापूर्वक एक पापों किसी समय चलावे प्राप्त होने भी नया से सब स्वरुहसे करा दूर रहना अच्छा है पर पाप मर्त्यसे सब अथवा बहुत दूर है । राज्यका य विनया वचित सुद्ध और निष्पाप रहे कभी कभी सामर्थ्य कायक ही मार वाय स्वशासन कष्टमित हुआ तो कष्टके शोचानि और निष्पाप होनेसे बरेद ही नहीं है । अतः राज्यशासनमें सुद्धता पवित्रता निर्योग और निष्पापता एकत्रैव सब तथा ही करना वचित है ।

सताईसवों सिद्धान्त = "ज्ञानी और कर्तृत्ववान् राजपुरुष "

२७ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।

' (ईश्वर) ज्ञानी, सयमी, विजयी और स्वयंभू है । '

(२७) ईश्वर कवि, ज्ञानी, दूरदर्शी, अतीन्द्रियदर्शी, दूरदर्शी, मनके ऊपर प्रभुत्व करनेवाला, मनका स्वामी, सबपर अपना प्रभाव डालनेवाला, विजयी शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं सिद्ध, अपनी शक्तिये रहनेवाला दूसरोंपर अवलम्बन न करनेवाला, प्रत्युत दूसरोंको अपना आधार देनेवाला है ।

राज्यशासक, राज्यशासनके अधिकारी, राजपुरुष भी (कवि) ज्ञानी, दूरदर्शी, अतीन्द्रियदर्शी, (मनीषी) मननशील, मनपर सयम करनेवाले, मन सयमी, इन्द्रियदमन करनेवाले, मनको अपने अधीन करनेवाले, (परिभू) अपने शत्रुका पराभव करनेवाले, विजयी, प्रभावी, सबपर अपना प्रभुत्व रखनेवाले, चारों ओर अपने प्रभावका फैलाव करनेवाले, (स्वयंभूः) स्वयं अपनी शक्तिये रहनेवाले, अपनी शक्तिये कार्य करनेवाले दूसरेपर अपना भार न रखनेवाले, स्वयंप्रभावी, स्वयंसिद्ध, समयपर अपनी योजना सिद्ध करनेवाले राजपुरुष उत्तम राज्यशासन कर सकेंगे । प्रत्येक राज्याधिकारीकी नियुक्ति करनेके समय उसमें ये गुण हैं वा नहीं इसकी परीक्षा करनी होगी । राजसभाके सदस्यों में भी ये गुण चाहिये । राजसभाके सभासदोंको चुननेवाले भी ऐसी परीक्षा करनेवाले होंगे ता ही वे उत्तम सदस्योंकी नियुक्ति कर सकेंगे । ऐसे चुनाव करनेवाले न हुए तो क्या होगा इसका विचार पाठक स्वयंविचार करके जान सकते हैं । चुननेवाले, जिनका चुनाव करना है, सदस्य, अधिकारी इन सबकी विशेष योग्यता होनी चाहिये । जिस स्थानपर उन्होंने बैठना है, जिस कार्यको करना है, उसको उत्तमसे उत्तम निभाने योग्य उत्तम गुण उनमें चाहिये, तब राज्य शासन उत्तम होगा, अन्यथा भ्रष्टाचार होनेमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

कवि, मनःसयमी, प्रभावी व स्वयंसिद्ध ये चार पद सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं । ऐसे अधिकारी होने चाहिये, ऐसे कार्यकर्ता होने चाहिये और ऐसे राजसभाके सभासद होने चाहिये ।

चतुर्थ प्रकरण

विद्याका क्षेत्र (शिक्षा विभाग)

सुनशीसर्वो विद्वान् = 'आत्मज्ञान और प्रकृति विज्ञानका समन्वय।'

१९ अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुगमते ।

ततो भूय इव तनमो य उ विद्याया रता ॥९॥

अन्धे गच्छन्ति गच्छन्ति गच्छन्ति गच्छन्ति ।

इति शुश्रूष भागणा ये न स्वद्विचित्राभिरे ॥१०॥

विद्या चात्र गच्छ यस्मिन्नेदोभय सह ।

आवद्यया मृत्यु तात्पर्या विद्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

“ जो प्रकृति विज्ञानकी छाँ कवल उपायना करते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं, पर जो केवल आत्मज्ञानमें ही रमते हैं वे उसमें भी अधिक अन्धकारमें पहुँचते हैं ॥ आत्मज्ञानका फल भिन्न है और प्रकृति विज्ञानका फल विभिन्न है ऐसा हमने उनसे सुना है कि जो उपदेश करने हैं ॥ आत्मज्ञान और प्रकृति विज्ञान इन दोनों ज्ञानोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानने हैं वे प्रकृत-विज्ञानसे कुछ दूर काँके आत्मज्ञानसे अमृत प्राप्त कर सकते हैं । ”

(२९) “ विद्या ” का अर्थ “आत्माकी विद्या” और “ अ-विद्या ” का अर्थ ‘अनात्मा अर्थात् प्रकृति की विद्या ।’ आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या अर्थात् परमात्मज्ञानसे आत्मिक शान्ति मिलती है और भूतविद्या, प्रकृति विज्ञान अर्थात् विज्ञानम एहिक मुख्य साधन त्रिगुलतासे निर्माण किये जा सकते हैं अतः एहिक सुखाका शब्द भूत विद्या से होती है । इसलिये प्रकृति विज्ञान भी आवश्यक है और आत्मज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि मनुष्यको ऐहिक सुख भी चाहिये और आत्मिक शान्ति भी चाहिये । इसलिये प्रकृति विज्ञान और आत्मज्ञान इन दोनोंका समन्वय रष्ट्रीय शिक्षामें होना चाहिये ।

जो राष्ट्र जनता को समान केन्द्र प्रकृतिव विज्ञानके प्रति पाठ्य है वे ऐदिक
 कुछ मोन कहते हैं । पर हमने ईश्वरपुत्र कहते हैं । जलन के समान सपनोंमें
 पड़ने और दुःख मानते हैं । इस तरह को अध्यात्मज्ञानसे ही केवल पाठ्य पड़ने
 है वे अज्ञान अज्ञानिक ज्ञानि ज्ञान हीके पर हमने पाठ्य उपधीनपदके
 आश्रय लक्षण या न हमने केन्द्र ऐदिक कुछ उपधीन व संवित रहते हैं
 और वही दुःख मोनते रहने हैं इस तरह के अज्ञानज्ञान और केवल मन-
 विज्ञानके लक्षण कहते हैं की ही दुःखते हैं । हीन है । ज्ञान ज्ञान और विज्ञानका
 सम्बन्ध ज्ञानके द्वारा आपत्तक है ।

मताः एतत्तर्कः । तदर्थम् । तच्चिन्तयेत् किं ये ज्ञाने । तन्मै प्रकृतिविज्ञान
 कदाचि ज्ञान स न ज्ञानज्ञान की पड़ने । इन तरह दोनो ज्ञान । ज्ञानोक्त
 कदाचि मनमय होनो कदा होनो ज्ञान स्मृति की और निरन्तर अधि-
 युक्त होनी ।

कर्मसूत्र

टीकाये विद्वान्— समाज और व्यक्तिता सह विद्यते ॥

१० सम्पन्नमा प्रविरामि वदसंभूतिमुपासत ।

तना मूर हव त तमो य व सभूत्यो एता ॥११॥

जन्मद गदु । सम्पन्नमा प्रविरामि वदसंभूतिमुपासत ।

ज्ञान शोधन चोदनाये नरताम्रचचापरे ॥१२॥

संभूति च विद्यायां च यस्मिन्नाद्यप्यं सह ।

विनायक मुप्यं तीर्थां समुप्यामृतमनुते ॥१३॥

॥ जो केवल व्यक्तिता ही कर्मका कहते हैं व अन्य बातें बताते हैं । पर
 जो केवल व्यक्तिता ही समत है व तो कर्म ही वन कर्मका ही बताते हैं ॥
 व्यक्तिता ही वन विज्ञान है और समाजका ही वन विज्ञान है । इस इन कर्मके
 कर्मते माने हैं कि जो कर्मका कहते हैं ॥ व्यक्तिता और समाजका ही वन

दोनोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानने हैं वे व्यक्तिवादसे व्यक्ति के दुःख दूर करते हैं और समाजवादमें (सघटित होकर) अमरत्व प्राप्त करते हैं ॥ ”

(३०) “ असंभूति, असंभव, विनाश ” ये पद “ व्यक्ति स्वतन्त्र्यवाद ” के बाधक हैं और “ संभूत, संभव ” ये पद “ समाजवाद ” के बाधक हैं ।

व्यक्ति स्वतन्त्र्य और समाजवाद ये दो पक्ष इस जगत्में प्रचलित हैं । व्यक्ति स्वतन्त्र्य बढ़ गया तो समाजका सघटना कम होती है और समाजवाद बढ़ गया तो व्यक्ति के लिये कुछ भी स्वातन्त्र्य नहीं रहता । इस तरह इनमें कुछ गुण और कुछ दोष हैं । जो व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहते हैं वे व्यक्ति की उन्नति करते हैं, पर वे समाजको सुसघटित और बलवान नहीं बना सकते । यह व्यक्ति स्वतन्त्र्यवाद का दुष्परिणाम है । इसी तरह जो समाजवादी हैं वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम करते जाते हैं, इस कारण व्यक्ति दब जाती है और अवनत होती है व्यक्ति दब जानेसे उसका परिणाम अन्तमें समाजमें दास भाव घटनमें होता है । इस तरह दोनोंमें कुछ गुण और कुछ दोष होते हैं । अतः जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद और समाज-सघटनावाद इन दोनोंका समन्वय करते हैं वे व्यक्ति स्वतन्त्र्यसे होनेवाले लाभ प्राप्त करते हैं और समाज को सुसघटित करके बलवान भी बनाते हैं और समाजके साथ अमर हो जाते हैं क्योंकि व्यक्ति मरनवाला है और समाज ही अमर है ।

इसलिए राज्य व्यवस्थामें समाजकी सघटना बढ़े और व्यक्ति को भी आवश्यक स्वातन्त्र्य मिल ऐसी योजना करनी चाहिये ।

व्यक्ति को आवश्यक स्वातन्त्र्य मिलनेसे व्यक्ति का विश्वास होगा और समाजकी सघटना होनेसे समाज भी बलवान बन जायगा । इस तरह समन्वयसे दोनोंका लाभ होगा और यह राष्ट्र विशेष प्रभाव देनेगा ।

दृष्टान्तो विद्यमानः “सुदर्शनं मोक्षं च स्वायत्ते सत्यधर्मका दर्शनम्”

११ द्वितीयस्य पात्रस्य सत्यस्वायत्तिर्निमित्तं मुक्तयः ।

तत्रैव पुरुषार्थपूषु सत्यधर्मस्य दृष्टये ॥१५॥

“सुदर्शनं पात्रस्य कर्मस्य सुखं दद्यात् । हे पात्रक ! कर्म कर्मके दृष्टये
मित्रे वः दद्यात् तु त्वं च (नार दशमः दर्शनं कर) ।

(११) मित्रकपी वचनमे सुकर्णके आख्यात ते वचनं स्वयं सत्यं सत्यं
किया है वह । तब ही कर्म सत्यं ज्ञातः । ” । स्वयंकारने प्रत्येक कर्माधी सुदर्शन
ज्ञानसे मित्रों की दृष्टि सुख हो जाती है । वह जो वही वचन है । सत्यमेव सत्य
दृष्टये ही मित्रों को इच्छा हो । वह वचन सुकर्णके दद्यात् । तु त्वं च । अर्थात् स्वयं ।

एतत् स्वयंकारने मित्रं अविद्यारिवासी दुर्जनस्य व्यापकं ही द्रोणा ने ही
कर्म निर्णय कर लीये । दुर्जनके देने ही मित्रों के सत्यमेव । विद्याः स्वयंकार
मित्रस्य दायका अविद्यं है । एतत् च स्वयं वत्त अविद्यानीये मित्रास्य वरमेव
स्वयं स्वयं कर्मास्य विद्या करे नार विद्योनी आचारा ही स्वायत्त करे ।

ये वचन मंत्रादे नाना । दृष्टान्ते कर्मस्य मोक्षं दद्यात् हे ए ताम् स्वयंकी
कर्मिणा विरत्तारी कर्मो अविद्यं है । कर्मका सुकर्ण कर्मोन्ने वचनं दद्यात्
आत्मा मंत्र एतत् स्वयंकार दद्यात्कारण वीर्यं वृत्तिं दद्यात् और दद्यात् दद्यात् ।

दृष्टान्तो विद्यमानः कर्मसाधकादी दद्यात् दर्शनम्

११ पुरुषः सैव सत्यं सत्यं साक्षात्सत्यं

दृष्टं दृष्टीयं समूहः ।

तत्रा यत्त कर्मा कर्मसाधकमेव तत्त पदधामि ।

धातुमायसी पुरुषः साक्षात्सत्यम् ॥१६॥

“ हे एक अविद्यानीय कर्म मित्रास्य तेन सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं सत्यं ।
कर्मो कर्मोने तेन सत्यं मित्रोको कर्म कर दद्यात् कर कर । ये सुकर्णा दद्यात्
सत्यं दद्यात् है वह मैं दद्यात् दद्यात् है । ये एक कर्मसाधक कर्म अविद्यानी
दद्यात् है वही मैं है । ”

(३२) ईश्वर सबका णेश्वर, अद्वितीय ज्ञानी, सर्वत्र नियामक, तेजस्वी, सबका पालक है । उसके दो स्वरूप हैं ।

(द्वे चायं ब्रह्मणो रूपे) एक तेजोमय याज्ञ द्रव्य स्वरूप है और दूसरा आन्तरिक कल्याणमय आनन्द स्वरूप है । एक प्रखर स्वरूप है और दूसरा शान्त व सौम्य है । यह स्वरूप साधक देखना चाहता है । यह साधक भगवान् जग प्राण जगद्गुरु सूर्य नागायगर्भे जो प्राण है उसी प्राणको धारण करनेवाला यही साधक हुकर स्वप्न है । यही इस शान्त स्वप्नको देखना चाहता है ।

इसी तरह राष्ट्रके शासक केन्द्रमें देखिये । यह शासक राष्ट्रका पालन पोषण करता है, अद्वितीय ज्ञानी इस शासनका कार्य करते हैं, वे ही सब शासक संस्थाका नियंत्रण करते हैं । वे ही सबको प्रेरणा करते हैं और संचालन करते हैं । इन संस्थाके दो विभाग हैं एक बाहरका चमकीला विभाग है, इसमें सैनिक, अधिकारी, सरक्षकदल, राजसभा, काग्रह, दण्ड, घोषणा आदि चमकनेवाला एक भाग है । इसमें दिखावा है, भय है, चमकावट है । आखि चकाचींध होती है इसके दिखावसे । इस दिखावेको एक और करके दूसरा जो राज्यशासनका गुप्त कल्याणमय भाग है वह कितना प्रभावी है वह देखना चाहिये । इससे प्रजाका सच्चा आत्मिक कल्याण कितना हो रहा है, सुख आराम आनन्द और शान्ति किनने प्रजाको मिल रही है इसका निश्चय करना चाहिये । प्रजाका सच्चा हित कितना हो रहा है वह देखनेसे और विचार करनेसे इसका पता लग जाता है । बाहरका दिखावा दूर करना और अन्दरकी शान्तिका पता लगानेसे इस शान्त स्वरूपका पता लग जाता है । यही राज्य शासनमें देखने योग्य बात है ।

मानवोंकी अवश्यकताएँ मानवोंको मिलनी हैं या नहीं, मानवताका मूल्य बढ़ रहा है या घट रहा है मानवोंमें शान्ति व आनन्द बढ़ रहा है या घट रहा है इसका विचार करनेसे आन्तरिक स्वरूपका पता लग सकता है । राज्यशासनका

कल्याणमय मय स्वयं यह है । यह हीने स्वयं ही कर लय ही निगद
कामा यही है ।

राजद्वारा से केन्द्र में जो सर्वोच्चता कार्य कर रहे हैं वे वादी केन्द्र का
कर रहे हैं। तथ्यादि उनसे विपुल करने का। मैं हूँ उनका समाधि बनौ
के हूँ। कार्य का भी मैं हूँ। वह ही हूँ। मैंने उनसे वही विपुल विप
है अतः उनका कार्य केन्द्र ही रहा है अन्त्य में विपुल करने का।
उन विपुल का नेत्र कुछ अविद्या है। मैंने जो वादात्मक विपुल विप हूँ
करना अन्त्य का कार्य अन्त्य ही रहा है वह मैं देख रहा हूँ। अतः ही
करने अन्त्य-विप विपुल करने है अतः अन्त्य-विप विपुल विपे अन्त्य
केवा अन्त्य कर रहे हैं अन्त्य विपुल करने ही अन्त्य-विप है। अतः
हूँ अन्त्य अन्त्य अन्त्य ही रहा है अतः अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य
ही है। अन्त्य-विप विपे अन्त्य कर अन्त्य। अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य
अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य ही अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य
अन्त्य अन्त्य अन्त्य ही अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य अन्त्य

United Nations

¹⁰ प्रायः नामन मौनं सम्माननं चरितं

११ वायुपुत्रात्मकमधुर्ग

सः ५२ सप्तम्यान्तं दृशीरथ ।

^{५५} "साहज असाध्यविष अफसत है और वार सप्ताह मरना होजियाना है।"

[illegible]

मत्स्य होगा और यदि उससे विश्वसेवाके कार्य लिये तो भी वह विनष्ट होना चा
मत्स्य होगा ही। इसलिये उसमें विश्वसेवा जितनी अधिक हो सक्ष्मता है उतनी
लेना ही उचित है। इसीसे जीवितका सार्थक होना सम्भव है। जीवनका परम
कल्याण समष्टिकी सेवासे ही है।

चौतीसवाँ सिद्धान्त="कृत कर्मका स्मरण "

३४ ॐ कृतो स्मर कृतः स्मर

कृतो स्मर, कृतः स्मर ॥ १७ ॥

"हे कर्म करनेवाले साधक। ॐकारका स्मरण कर, क्या किया है उसका
स्मरण कर, हे कर्म करनेवाले साधक। जो पूर्व समयमें किया है उसका स्मरण
कर।"

(३४) मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है, इसलिये उसका नाम 'कृतु' है।
सब मनुष्य कर्म करते हैं, इसलिये सब कृतु कहलाते हैं। मनुष्य शुभ कर्म न
करेगा तो अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट हुआ ऐसा समझा जायिगे। इस मनुष्यको
'ॐ'कारका स्मरण करना चाहिये। ओंकारमें 'अ-उ-म' ये तीन अवस्थाएँ
हैं। 'अ' (जाग्रति या सूक्ष्म), 'उ' (मध्यस्थिति, स्वप्न या सूक्ष्म),
और 'म' (बौद्धिक, आत्मिक, सुषुप्त अवस्था) दर्शायी जाती है। इन तीनों
अवस्थाओंपर राज्यशासनका परिणाम क्या हो रहा है, अर्थात् राज्यशासनसे
इनमें उत्पत्ति होती है या अवनति होती है, इनमें शान्ति होती है अथवा
घबराहट होती है यह देखना चाहिये। मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि
मैंने जा भूतकालमें कार्य किया उसका क्या परिणाम हुआ और आज जो मैं
कर रहा हूँ उसका परिणाम भविष्यमें क्या होगा। इसी तरह राज्यप्रबंधके
विषयमें भी देखना और अपनेद्वारा सुयोग्य कर्म होते रहें ऐसा प्रबंध करना
योग्य है।

पैंतीसवाँ सिद्धान्त="मार्गकी शुद्धता "

३५ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

'हे तेजस्वी प्रभो। हमें ऐश्वर्य प्राप्त होनेके लिये उत्तम मार्गसे ले जा।'

(१५) मनुष्योंके देशर्ष आदिने नहीं वह (तुष्य) काम कुछ मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य अपने मन जान कराना अधिक नहीं है। येन भी कुछ चाहिये और बहुतों का अधिक मार्ग बनाना सोचन भी कुछ चाहिये।
 कर्त्तव्यो विद्वान्—“कर्मोका परीक्षण”

३६ विश्वानि देव वपुनानि विद्वान्

हे प्रभो। तू सबके कर्म जानता है।

(१६) मनुष्योंके कर्म अच्छे हैं या बुरे हैं इसका ज्ञान तूकी निःस्विकृति हस्ते होता है।—

इसी तरह राजवक्त्रात्ममें भी ज्ञानाधीन हुए लोगोंके कर्मोंका निरीक्षण और परीक्षा करता चाहिये। जिनके कर्म अच्छे हैं उनका सम्बुद्ध और जिनके हीन कर्म हैं उनका भ्रष्टावृत्त स्वभाव हो। इसके काम कुछ कम करनेकी इच्छा बनाने की है। क्योंकि परीक्षासे मानवोंकी उच्च नीचता सिद्ध होती रहे।

कर्त्तव्यो विद्वान्—“कुलदण्डाद्यो ह्युद्वेगवत्”

३७ युयाध्वस्मज्जुहुराणमेन ।

इन्को कुत्रिज्य और पण प्रत्यर्थात् पूरा कर दो।

(१७) मनुष्योंके जो कुत्रिज्य देशात्म वक्त्र और पण आदि दोष हैं उनको वक्त्र पूर्वक पूरा करना चाहिये अन्यथा कुछ कर कर बनने पर बनाना चाहिये। वे दोष पूरे हैं इस ज्ञाने अपना रहस्य प्रकट करना चाहिये।

राजवक्त्रात्ममें भी कुत्रिज्य कर्म केहीनता प्रकटकर, पण निश्चयपूर्वक, कर्मकायका आदि दोष प्रकट पूर्वक पूरा करने चाहिये।

कर्त्तव्यो विद्वान्—“इन्द्राद्यो मार्ग”

३८ सूविर्हाते ममउर्जित विधेम ॥ १८ ॥

हे प्रभो। तुम्हीं मे भयान करता हैं, (मेरी लुप्ति करता हैं)।

(१८) मनुष्य ईश्वरकी भक्ति करे, उसे नमन करे, उसके गुणोंका वितन करे, उन गुणोंसे अपने अन्दर धारण करे ।

राज्यशासनमें भी ईश्वरभाषिष्ठे लिये स्थान चाहिये । ईश्वरके लिये नमन करना, ईश्वरके सन्तुष्ट नष्ट होकर अपना कर्तव्य करना चाहिये । ईश्वरसे सदा अपने सन्तुष्ट देखाकर अपना कर्तव्य सुयोग्य रीतिसे करना चाहिये ।

शान्ति मन्त्र

“यद् ब्रह्म पूर्णं है, यह विश्व पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्मसे यह पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है । पूर्णसे जो उत्पन्न होता है वह पूर्ण ही होता है । उस पूर्ण ब्रह्मसे इस पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होनेपर भी उस ब्रह्ममें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई, यह पैगाथा पैसाही पूर्ण रहा है ।”

व्यक्तिमें शान्ति हो, समाजमें शान्ति रहे और विश्वमें शान्ति स्थापन हो ।



भोरने घेर सकता है । ऐसे गुणोंमें युक्त राजा, अध्यक्ष तथा राज पुरुष होने चाहिये ।

२ राष्ट्रकी शिक्षा-प्रणाली

राष्ट्रकी शिक्षा प्रणालीमें (म० ९-११) प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान इन दोनोंका योग्य समन्वय किया जाय । केवल प्रकृत विज्ञान बढ़ गया, तो भोग विलास बढ़ेंगे व स्पर्धा बढ़नेसे कारण युद्ध बढ़ जायेंगे और केवल आध्यात्मिक ज्ञान हो राष्ट्रमें बढ़ गया तो ऐहिक अभ्युदयसी ओर दुर्लभ होगा, जिनसे ऐहिक सुखभा नहीं प्राप्त होगा । ये दोनों भय हैं । इनको दूर करने के लिये राष्ट्रीय शिक्षामें भौतिक और आध्यात्मिक विद्याओंका समन्वय करना योग्य है । इनमें प्रजाजनोमें अभ्युदय और निधेयसका सम विकास होगा और ऐहिक सुख और आध्यात्मिक शान्ति प्रजाजनोको प्राप्त होगी । दोनों विद्याओंका समविकसन राष्ट्रमें करनेसे सबका लाभ है । इसलिये एक राष्ट्रव्यापी शिक्षाका नियोजन करना चाहिये ।

३ ध्येय और मार्गकी शुद्धता

(म० २) मनुष्योंको अनेक प्रकारके श्रेष्ठतम कर्म करने चाहिये । सर्वजनहित करनेका ही इनका उद्देश्य हो । इनसे सब जनोका धन ऐश्वर्य और सुख बढ़े । कोई दुःखी न रहे ।

(म० १८) जो धन प्राप्त करना है वह शुद्ध मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये । ध्येय भी शुद्ध हो और मार्ग भी शुद्ध हो । अपवित्रता, पाप, घटाचार, कुटिलता आदि दोष न हों ।

राज्यव्यवस्थाने ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिससे कोई भी अपवित्र मार्गसे न जा सके ।

४ आर्य और अनार्यकी परीक्षा

प्रजाजनोमें गुणकर्म स्वभावसे आर्य कौन हैं और अनार्य कौन हैं, इसका

કચ્છકિંને પડેજાન જગા જગીરે । જાગુડી જીર દેવી માર્યેલે જીન જડ તથા દે
 રાજા મીરજી । ધી વહ કરે । દુનયો દુવડ રજાત જીર દુવડે અવિચાર ધી
 રાજા હોને જાડીને । રે । જાગેજા જાગેજાઓએ મિચેદ જાગુડીવડે મિડિ જીર
 જાગુડી માર્યેને જાગેજાઓજા અવિદા બિચાર તથે જાવ । (૫ ૧)

समाधि-स्मरण

५ समाज और व्यक्ति का संबंध

[illegible]

१. स्थान और क्षेत्र

(म्यत्कृतं भुञ्जीयात्) यो १) वस्तुवशे व्यापाराने म्यत्किं एतन्नी है।
इत्यन्तिने म्यत्किं करने योग्योन्ने वस्तुवशे निने वस्तुवशे करे, करने योग्योन्ने वस्तुवशे-
विशेषे निने वस्तु करे और ऐतन् वस्तु करे जो वस्तुवशे (होय वस्तुवशे करने
निने योग्य करे। (या भुञ्जीयात्) योग्य न करे। योग्योन्ने वस्तुवशे है।

(कस्यस्वित् धनं) प्रजापतिका प्रजापालनमें व्यय करनेके लिये सब धन है जो धन यहां है उसका उपयोग सब प्रजाजनोंकी उत्तम पालना करनेके लिये होना चाहिये। धन किसी व्यक्तिसा नहीं है, व्यक्ति धनकी विश्वस्त रह सकता है।

(म० १५) सुवर्णसे सत्य ढक जाता है। सुवर्णके लोभने जगत्में अनर्थ होते और दुःख बढ़ जाते हैं। इसलिये सुवर्णका प्रलोभन दूर करना चाहिये और सत्यका दर्शन करना चाहिये। सत्य नित्य मागदर्शन करता रहे।

अपराधिद्ध। म० ८) पापका आचरण कोई न करे। (शुद्ध) शुद्ध और पवित्र आचरण करे।

७ राज्यशासन कैसा हो ?

(म० ५) राज्यशासनद्वारा प्रजाजनोंकी उन्नतिही सब योजनाओंको प्रेरणा मिलती रहे, परंतु राज्यशासन स्वयं कभी चञ्चल तथा अस्थिर न हो। वह केन्द्रमें तथा बाहर एक जैसा प्रभावी रहे। वह जैसा समीप वैसा ही दूर बना। तथा कार्यक्षम रहे। (म० ६) सब प्रजाजन उसकी सहायतासे उन्नत होने रहें, तथा सब प्रजाजनोंमें उस राज्यशासनके विषयमें आदरका स्थान रहे। (म० ७) सर्व प्रजाजन तथा राज्यक शासक इनका एकात्मता रहे। इनमें कभी विरोध न हो। प्रजा और राज्यशासक इनमें पूर्णरूपसे अविरोध रहे। (म० ८) राज्यशासन। धावन् अन्यान् अत्यन्ते। दौड़नेवाले अन्य शत्रुओंसे भी अधिक वेगवाली हो, अर्थात् अन्य शत्रु जितने वेगसे गति करते हैं उससे अधिक वेगसे अपनी प्रगति हो। शत्रु या गुण्ड जितने वेगसे कार्य करेंगे उससे अधिक वेगसे राज्यशासक उन अपराधियोंको पकड़नेमें सदा दक्ष रहें। जितनी प्रगति अन्य लोग कर सकते हैं उससे अधिक प्रगति अपने राज्यशासक करते रहें। कदापि गुण्डोंके पास अधिक वेगके साधन न हों, उनसे अधिक वेग अपने राज्यशासकोंका हो। अर्थात् वे अन्य लोग अपने शासकोंके सन्मुख कुण्ठित गति हो जावें।

अर्थात् इत्युक्तान् शास्त्रानीत्याः समाख्याः (अं ६)

अथत एतेषां कर्मफलानां अर्थे एतेषु पुनः पुनः ।

एतद्व्यवहार ऐश्वर्य नग्न हो कि बिना ही कौटुम्बिके अर्थे तथा समाजिक व्यवहार करने होते एवं और बिना ही नग्नवापसी न हो अर्थे समाजिक और एतद्व्यवहार से एतेषु पुनः पुनः और परस्पर मिलेगी न रहे, परंतु इतने भरकर एतद्व्यवहार ही बिना ही सोने के व्यवहार आमतो होना रहे । अर्थात् व्यक्तिगत व्यक्ति हो और व्यक्तिगत व्यक्ति भी रहे इसी व्यवहार एतद्व्यवहार के द्वारा होनी चाहिये । एतद्व्यवहार का जोर दसा हो कि बिना ही व्यक्ति और ही सोने के व्यवहार होते रहें ।

राज्यव्यवहार प्रवर्ती और व्यक्ति चाहिये वह बीजे के पुनः पुनः पुनः न रहे । इसी तरह एतद्व्यवहार का प्रवर्तक पुनः पुनः पुनः न रहे और वे एतद्व्यवहार न कर सकें, इसी से रहे हैं अथवा पुनः पुनः पुनः पुनः ।

८ राष्ट्रका आरोग्य

एतद्व्यवहार के द्वारा एतद्व्यवहार का अर्थ है और एतद्व्यवहार का अर्थ है अथवा एतद्व्यवहार का अर्थ है और एतद्व्यवहार का अर्थ है । (अं १)

इस तरह ईश्वरजी ने एतद्व्यवहार का अर्थ है और एतद्व्यवहार का अर्थ है अथवा एतद्व्यवहार का अर्थ है और एतद्व्यवहार का अर्थ है ।

अथ पुनः ही एतद्व्यवहार ही एतद्व्यवहार का अर्थ है और एतद्व्यवहार ही एतद्व्यवहार का अर्थ है ।

बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा

(वेद तथा उगनिषदादि भारतीय अध्यात्म शास्त्रके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित चिर-स्थायी अध्यात्मनञ्चोंपर आधिष्ठित एक उत्तम ' बहुपाय्य-स्वराज्य-व्यवस्था ' है । इस तरहकी स्वराज्य व्यवस्था अपने देशमें स्थापित करनेके लिये एक पक्ष कार्य कर रहा है, ऐसा मानकर, वह स्वराज्यपक्ष अपने पक्षकी घोषणा वैदिक सिद्धान्तोंके आधारपर किस तरह करेगा, इसका घोषणामें कौनसे विशेष तत्व होंगे, इसकी चिन्ता विचारशील व्यक्तियोंके मनमें उत्पन्न होता है । इसलिये विशेषतः ईशोपनिषद्के अनुसार साथ साथ भगवद्गीताका सहारा लेकर भी " बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा " यही हम प्रस्तुत करते हैं ।)

हमारी घोषणा

हमारा " बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्ष " ऋषिचक्रमें स्थापित हुआ और हमारे पक्षने उसी समय यह घोषणा प्रकाशित की—

१— हमारा ध्येय

हमारे पक्षका ध्येय (शान्तिः शान्तिः शान्तिः) ' विश्वमें चिर-स्थायी शान्ति स्थापित करना ' है । इन साध्यको सिद्ध करनेके लिये हम सबसे प्रथम अपने भारतीय समाजमें तथा भारत राष्ट्रमें स्थायी शान्ति स्थापित करेंगे और इसका प्रारम्भ एक एक व्यक्तिके अन्तःकरणमें समत्वपूर्ण एकत्वताका भाव प्रस्थापित करनेसे होगा । इसीकी सिद्धिके लिये हम अपने राष्ट्रमें आध्यात्मिक तत्त्वोंपर आधिष्ठित * बहुपाय्य-स्वराज्य-शासन शुरू करना चाहते हैं क्योंकि सुयोग्य स्वराज्य शासन अपने हाथमें रहे बिना न तो हम राष्ट्रमें शान्ति स्थापन कर सकेंगे और नही व्यक्तिमें एकत्वता स्थापन कर सकेंगे फिर विश्वमें शान्ति स्थापन करना तो दूर की बात है ।

* बहुपाय्य स्वराज्ये (ऋ ५।६।६ रातहव्य आत्रेय ऋषिकी घोषणा)

१— यह विश्व पूर्ण है

हमारे ब्रह्मात्म-साराङ्ग-गद्य मस्तक यह है कि यह विश्व जैसा व्यक्ति वैसा व्यक्तीय सत्तातेक सब साधनेसे परिपूर्ण है, इस विश्वमें किसी तरहकी मूर्खता नहीं है। (पूर्व अद् पूर्ण इवम्) क्योंकि यह पूर्ण विश्व पूर्ण परने-परक ब्रह्मात्मा हुआ है। इस कारण यह सर्वत्रोपरि पूर्ण है। इसमें किसी तरह शोक नहीं है। इस साधनसे ही हमने अपनी व्यक्तिगत ईश्वरता तथा राजाका लक्ष्मि करवा है। शोक मनुष्यकी लोभ साधनामें होता है, इसलिये इन एक बात करने और अपने समाजसे ऐसे अनुशासनमें ले आनेसे कि जिस अनुशासनमें रहे मनुष्य साधनामें शोक नहीं करने, बल्कि प्रकाश करनेपर भी यदि शोक होता तो कमसे कम हो सकेगा। इस हेतुकी सिद्धिसे जिसे हम अनुशासनमें करनेवाला समझ सकते हैं। यह हमारा सबसे पहला कार्य हुआ।

१ प्रशासन शास्त्राका शासन हुआ

(ईशा एव इह सर्वं वा यम्) जिसमें प्रशासन करनेकी शक्ति होती थी वही इह वैश्वर्ये ठीक तरह का शासन कार्य कर सकता है। इसलिये हम अपने शासन-ईश्वरने बनाया गायत्री व सत्यात्मा जैसी तरहसे अनुशासनसुख और अन्तर्गत सुख-सुख बनाने, जिससे अपने समाजमें प्रशासन करनेकी शक्ति बढ़ेगी और अनुशासनमें रहकर अपना कार्य करनेका सत्ता तथा सत्ता का मन्त्र भी बन जाएगा।

२— व्यक्ति और समाजका संतान

(अगाध्या अगात्) समाजके आधारके व्यक्ति रहती है। व्यक्ति समाजके आधारके बिना कभी नहीं रह सकती। इसलिये हमारा ध्येय यह होना कि अपना समाज अच्छी तरह सुनीपणित हो और व्यक्तिको समाजके संगठनको बढ़ानेके लिये तथा सेवा करने के लिये अनुशासनबद्ध किया जाए। व्यक्तिको अपना एक धर्म बन समाजको परम शक्ति करनेके लिये समर्पण करना होना। हमारे राज्यसमर्थने यदि समाजको परम शक्तिके लिये ही रहेगी। समाजकी परम

उन्नतिके विरोधमें व्याक्ति लट्ठी न रह सकेगी । व्यक्तिकी शक्ति इसीलिये विकसित करनी है कि उससे समाज शक्ति ही परम उन्नतिको प्राप्त हो ।

५— त्यागसे भोग

(त्यक्तेन भुञ्जीथाः) हमारे राज्यशासनमें व्यक्ति समाजकी परम उन्नतिलिये अपने सर्वस्वका समर्पण करेगी और समाज प्रत्येक व्यक्तिकी सब परम आवश्यकताओंके लिये आवश्यक भोग साधन देता रहेगा । किसी व्यक्तिको अपने योगक्षेमकी चिन्ता नहीं रहेगी (तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेमं वहामि) क्योंकि अनुशासनमें रहकर समाजकी सेवा करनेवालोंके योगक्षेमके लिये हमारे राज्यशासनमें राज्यशासन ही उत्तरदायी रहेगा ।

६— लोभका त्याग

(मा गृधः) प्रत्येक व्यक्तिको उचित है कि वह सब प्रकारका लोभ छोड़ देवे । हमारे राज्यप्रबन्धसे ही राष्ट्र-सेवा करनेवालोंकी सब योग्य आवश्यकताओंको पूर्ण किया जाएगा । हमारे राज्यशासनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने योगक्षेमकी चिन्तासे मुक्त रहेगी । प्रत्येक व्यक्तिको अनुशासनमें रहकर अपना नियत कर्तव्य उत्तम रीतिसे करना होगा ।

७— सब धन राष्ट्रका है

(कस्य प्रजापते स्वित् धनं) सब धन राष्ट्रका है और वह प्रजापालक संस्थाके पास रहेगा । सब धनका उपयोग प्रजाकी उत्तम पालनाके लिये ही होगा । यदि धन किसी व्यक्तिके पास हो तो वह उसका विश्वस्त रहेगा, स्वामी नहीं ।

८— कुशलतासे कर्म करना

(इह कर्माणि कुर्वन्नेव) यहाँ हमारे इस राज्यशासनमें प्रत्येक मनुष्यको अपने गुण, कर्म, स्वभाव, प्रवृत्ति तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार किसी न किसी सर्वजनहितकारी कर्ममें कौशल्य अवश्य प्राप्त करना होगा और यह कर्म उसे समाजकी परम उन्नति सिद्ध करनेके लिये करना होगा । योग्य

रंगे और भारतराष्ट्र की परम उन्नति करनेमें हमारे साथ रहे । हम निःसन्देह इस पद्धतिसे अपने राष्ट्र की परम उन्नति अल्प समयमें करके देना देंगे ।

१०-- आसुरी लोगोंकी पृथक् गणना

(असुर्या अन्धेन तमसा आवृता लोका , जो आसुरी शक्तिसे अज्ञानी गुण्डे लोह होंगे, यदि उन्होंने दैवी गन्तार्गका आचरण स्वीकार न किया तो उसी अमरार्गमें गणना की जाएगी और उ हूँ नागरेत्त्वके अधिकार न रहेंगे, जो कि मुक्तार्गके लोगोंसे होंगे । उनसे भिन्न उन्नति का मार्ग गुप्त रहेगा । परन्तु जो अमरार्गमें रहेंगे वे नागरेत्त्व नहीं माने जाएंगे । अतः उचित यह है कि सब जनता गुरार्गका रहन सहन स्वीकार करें । हमारे राज्यशासनमें किसीसे भी उन्नति करनेके लिये प्रतिबन्ध नहीं होगा । सदा सर्वदा उन्नतिके द्वार सबके लिये खुले रहेंगे ।

१३--न डरनेवाला शासन

हमारा राज्यशासन एक जैसा सबके लिये समान निर्भयशक्तिसे चलता रहेगा । किसीके डरसे या अन्य प्रलोभनके कारणसे उसमें (अनेजत्) परिवर्तन न होगा ।

१४--अद्वितीय शासन

(एक) हमारा राज्यशासन अद्वितीय होगा, क्योंकि इसका एक ही ध्येय है और वह है भारतराज्यको सर्वोत्तम परम वैभवशाली बनाना । हमारे पक्षके सब व्यवहार इस एकाग्र ध्येयके लिये साधक होते रहेंगे । किसीकी इस विषयकी सूचना विचारणीय सिद्ध होनेपर हम उसे अवश्य स्वीकार करेंगे ।

१५--मनसे भी चगवान्

(मनस जगीय) हमारे राज्यशासनके सब अधिकारी ऐसे चुने होंगे कि जिनके मनका वेग बहुत होगा । जो स्फूर्तिवाले होंगे और निरुत्साहका नाम भी उनके पास न होगा । क्योंकि तभी भारतमें शासनका कार्य पूर्णतः निर्दोष होगा ।

१६--अन्योंका अधिकारके स्थान नहीं मिलेंगे

(न अन्ये एनत् आप्नुवन्) कोई दूसरे विदेशी या सदा परकीय

प्रतिवे राजेशास्त्रे-इसारे इस अन्वय-अविशिष्ट इस अर्थात्पूर्व राज्यपालमने
अविशिष्टो अस्ति न कर अस्ति । अर्थात् जो भारतको अपनी मातृविभूमि
प्रति मन्त्र ने अन्व योग इस राज्यपालमने अविशिष्टो परपर नहीं रहे आदि
होई अरु आदेशादिप्रतिवे राज्यपालमन विधान करनेका अविशिष्ट नहीं रहेगा ।

१०- गुणवत्ताको बलियो सामर्थ्य

(पावनः मन्वाद् वाचसति) मुझे विदने थी तेव हीनेवाले यदि हर जग भी हन्दे एउ राज्यवाचनके अधिपति बनने केरकर पञ्चदेव समर्थ बननेवे । इसलिये हमारे राज्यवाचनमें सब प्रथम सभी इन्द्रिय अनुभव केन्द्र रहेगी । अतः सब प्रथम हमारे पञ्चमे आवायु और इन्द्र राज्यवाचनके साथी बने ।

१८- खापी ग्रासन

(विष्णु) हमारा राजकाजभर भजन नहीं होया क्या भाव एक एक रूप नहीं लेया एक नहीं होया । किन्ती एक प्रतिपादनी ही हमनुसार प्रकट नहीं होया । जहाँही स्थिर प्रकटस्थितिसे क्वाचि विचारके अनुसर स्थिर कश्चि प्रकट होया । आपत्तक प्रचारक विवेक ही प्रकट ही होया ।

१९ -बमोन्नी पारणा

(अथ ह्यधाति) हमारे राज्यवासियों सबके कर््यों का चरण होना ।
 करनेवालेके लिये योग्य काम मिलना । काम करनेपर वह स्वर्ग नहीं आद्यत ।
 लिये कामका योग्य चरण कर््योंको मिलना । लिये कर््य कभी विफल न होवे ।

१०—**शिवर रावकर कासाई मंडाल कएवा**

(तत्रेकस्मिन् तर्कप्रति) इत्याद्य उक्तप्रमाणेन तर्कविषयी कर्मोभे
 दोषाद्वयं देया परान्तु कर्म ज्ञपनी कानुसात्तनपूर्व परिशुद्ध नोक्तिर
 प्रोच्य । कर्म नैवक न होत इत्यादौ तर्को नृप मार्गिक न कर्मोच्य ।

११—समीप और दूर रहमपर भी समान

(सङ्कटरे सङ्गन्धिके) हमारा एकात्मिक विकास केन्द्र में प्रयुगी होगा ।

हा सुतृ भवान् भी प्रभावी होगा । अधिकारियोंकी दूरता और समीपतासे प्रभु की प्रभुताभिपत्ता नहीं होगी ।

११—शासन और शास्यकी सहकारिता

(ईदा सवभूतामि, सर्वभूतेषु ईशः) हमारे राज्यशासनमें सब भूतान् । भवान्द्वारे रहेंगे और सब जनतामें राज्यशासनके तथा राजपुरुषोंके नियमों का प्रसार रहेगा । शासक और शास्योंमें पूर्ण सामञ्जस्य रहेगा । इसलिये यदि किसी की किसी की निन्दा करीफा अवसर ही न मिलेगा । राज्यशासन पूर्णतया सार्गम (द्विष्टा करीफे) लिये चलाया जाएगा । और इसका ज्ञान प्रजाको रहेगा । इसलिये विरोधी भाव ही उत्पन्न न होगा ।

१२—एकात्मकताका अनुभव

(सर्वाणि भूतानि आत्मा-ईश-एव अभूत्) सब प्रजाजन ही जहाँ राज्यशासक रहेंगे, जहाँ शासित और शासकमें एकात्मता होगी वहाँ कोई किसीका प्रेष नहीं करेगा । ऐसा ही हमारा यह राज्यशासन होगा ।

१३—शरीर घण-रोगादि दोषरहित रहेगा

(अक्राय, अव्रणं, अस्त्राघर) हमारा राज्यशासन किसिके शरीर-दोष, घण या रोगादिके कारण बंद नहीं रहेगा । शारीरिक दोषोंसे हमारे राज्य-शासनमें घृष्टी नहीं रहेगी । हमारा राज्यशासन, बल और सामर्थ्यपूर्वक यथा-शोभ्य रीतिसे चलाया जायेगा ।

१४—शुद्ध और पापग्रहित

(शुद्ध अशुद्धिः) हमारा राज्यशासन सदा शुद्ध रहेगा और पापा-चार आदि दोषोंसे रहित होगा । भ्रष्टाचार, कालाबाजार, रिश्वतखोरी आदि दोष यहाँ नहीं होंगे ।

१५—ज्ञानी और संयमी शासक होंगे

(कविः मनोमी परिभू स्वयम्भूः) हमारे राज्यशासनके चलानेवाले अधिकारी ज्ञानी, करी, निष्ठ, अतीन्द्रियदर्शी, मननशालि, मन संयमी, इन्द्रिय-

स्मृति प्रणाली, अनुष्ठान पद्धति करनेवाले और अपनी क्षमिताई बढ़ाई अपने कार्य करनेवाले और सभी स्मृति आशीर्षक न होनेवाले होंगे । इसीलिए हमारा राज्य-शासन राज्य और निर्दोश होगा ।

१७— आध्यात्मिक कार्यप्रणालिका

(पादानन्दानो यर्जान् कण्ठस्थान् आश्वनीम् । समाश्रयः ।)
हमारे राज्यशासनमें कार्यप्रणालिका व्यवस्था और सभी राष्ट्रीय विभिन्न प्रशासनों की विभिन्न ऐतिहासिक व्यवस्था-व्यवहार करना प्रथम होगा फिर कार्यप्रणालिका के एक समय एक प्रशासकीयको प्रणाली होगी । हमारा राज्यशासन करने उपर्युक्त कार्यप्रणालिका के विभिन्न गरी देखे ।

१८— ज्ञान और शिक्षाका सहयोग

(विद्यां च अधिद्यां च उपाय सह ।) हमारे राज्यशासनके शिक्षा-विभागमें अध्यापकशास्त्र और प्रकृतिविज्ञान का दोनोंका ज्ञान साथ साथ दिया जाएगा । जिससे जनताको प्रकृति विज्ञानसे देखिके कुछ मिलेगा और अध्यापक-ज्ञानसे परम ज्ञान प्राप्त होगी इस तरह हमारी यह अनुष्ठान शिक्षा अनुष्ठान और निर्दोशका शासन बनाने योग्य ।

१९— व्यक्ति और समाजका सहविकास

(संस्तुतिं च जनसंस्तुतिं च समर्थ सह ।) एक और व्यक्तिगत सह-निष्ठता करनेका प्रणाली हमारे राज्यशासनमें होगा । हमारा संस्तुति प्रणाली, परम व्यक्तिगत सत्यता की गह गहरी होगी । व्यक्ति-सत्यता की उपर्युक्त संस्तुति कायदा नहीं होगी । हमारा यही यह है कि व्यक्तिगत सत्यता हो और निर्दोश व्यक्तिगत सत्य संस्तुति हो ।

२०— सत्यका वर्धन

(विश्वमन्त्राय पात्रेण सत्यस्यापिर्दिष्टं मुक्तम् । तत् सत्यं च यथा-
बुधु सत्यवर्मापि ब्रह्म ।) धर्मसे एक समय बात है, इसीलिए हम देखनेके

लिये सुवर्णके प्रलोभनको दूर किया जायेगा। हमारे राज्यशासनमें सुवर्णके प्रलोभनसे कोई सत्यको नहीं दबा सकेगा। इसलिये लोगोंको किसी तरह भी सत्य व्यवहार करनेमें कोई कष्ट न होगा।

३१— कल्याणस्वरूपका दर्शन

(पूयन् एक ऋते यम सूर्य प्राजापत्य) हमारे राज्यशासनमें प्रजाका पोषण करने, ज्ञानदान देने, दुष्टोंका नियमन करने, प्रजाको सत्यमार्गका दर्शन कराने, प्रजाका योग्य पालन करने आदि कार्य निर्दोषताके साथ होते रहेंगे। इससे अधिकसे अधिक प्रजाका कल्याण हो रहा है या नहीं (कल्याणतम रूप पश्यामि) इसका निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति करता रहे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भारतीय शासक सस्थाका एक भाग है। अतः उसको इसके निरीक्षणका अधिकार है।

३२— अमर प्राण और नाशवान् शरीर

(भस्मान्त शरीरम्) मनुष्यका शरीर भस्म होनेवाला है और उसका (धायु अमृत) प्राण अमर है। इसलिये हमारे राज्यशासनमें प्रजाके शरीर दीर्घायु और दीर्घजीवी करने का पूर्ण यत्न किया जाएगा, पर साथ साथ मनुष्यमें जो अमर अमृतमय भाग है उसका भी प्रकाश अधिकधिक होता रहेगा। ऐसी राष्ट्रीय शिक्षाकी व्यवस्था की जाएगी, जिससे ऐहिक चक्रतिके साथ आत्मिक शान्तिका भी यहाँ लाभ होगा।

३३— सिंहावलोकन

(कृत स्मर) किये हुए कार्यका परिणाम क्या हुआ, वह योग्य हुआ या नहीं, उसमें क्या सुधार करने चाहिए आदिका निरीक्षण करनेकी व्यवस्था हमारे राज्यशासनमें नियत समयके बाद होगी। सुयोग्य विद्वान् इस समितिमें रहेंगे और इनका जो निर्णय होगा, तदनुसार राज्यशासन-पद्धतिमें सुधार होगा। यह सुधार राष्ट्रसभाके निश्चयानुसार होगा।

१४—साध्य और साधनकी शुद्धता

(सुपथा राये मय) हमारे राज्यशासनमें रहकर सब लोग काम कुछ करनेके बगल कार्यरत कर सकेंगे । यही लक्ष्य और साधन तथा मार्गकी परिच्छा रहनी होगी । जो इस तरहकी शुद्धि नहीं रखेंगे वे राज्यकी समझे सकेंगे ।

१५—कर्मोंकी परीक्षा

(विष्णोर्मात्रे बहुधा न विद्वात्) जबके कर्मोंका निष्पन्न परीक्षण हमारे राज्यशासनमें होता रहता । मनुष्य कुछ और समझाये कार्यरत करते हैं या नहीं, सबका ज्ञानकार कर रहे हैं, इसका निष्पन्न कुछेक व्यक्तीय निष्पन्न होकर रहने । इसका परिष्कृत कर्मोंको सामना रहेगा । हमारे राज्यशासनमें निश्चिन्ता करणक काम नहीं मिले सकेंगे ।

१६—कृतिवृत्ता और पापसे मुक्त

(सुहृदाय एतः पुणोधि) यही कृतिवृत्ता ज्ञानकार और पाप होने का सबके कर्मोंको ज्ञान नहीं किया जाएगा । हमारे राज्यमें परिवर्तमानके व्यवहार करनेवाले ही ज्ञानमयके रह और सब रहने । पश्चिम और ज्ञानकारियोंको पद दिया जाएगा । हमारे राज्यमें इस निश्चयमें सभी पदवाच नहीं होगा ।

१७—ईश्वरकी भाक्ति

(भूमिच्छा नमः शक्ति विधाय) हमारे राज्यशासनमें परमेश्वरकी भाक्ति करनेके लिये योग्य स्थान बनाया रहेगा । ईश्वर-स्तुति प्राप्तता उद्योगता भाक्ति कर जादि जो ईश्वरभाक्तिमें विविध होगी वे व्यक्तिवृत्ता और उपपन्न । हमारे राज्यमें होती रहनी । इनके व्यक्तिवृत्ता ज्ञानकारमें लागित रहेगी और व्यक्तिवृत्ता भी रहेगा । निरीश्वरकारको नहीं स्थान नहीं रहेगा । क्योंकि ईश्वर भाक्ति से ही इस पदवाचक व्यवस्था हुआ है । ज्ञान ईश्वरके लिये नहीं तथा भेद स्थान रहेगा । हमारा राज्यशासन ईश्वरके गुणकारकी जगतिवृत्ता हुआ है । इसलिये ईश्वर ज्ञान नहीं जगतिवृत्ता नहीं है ।

सब सुखी हों,

सब नीरोग हों,

सबको कल्याण प्राप्त हो,

किसीको दुःख न हो ।

(यह आध्यात्मिक-बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्ष की घोषणा है । यह वेदके समान प्राचीन है तथापि यह आज नवीन जैसी भी है । यह ऋषियों की घोषणा है । इसीसे सबका कल्याण होगा) ।

सूचना — यह ' बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्ष ' की घोषणा ' ईश उपनिषद् ' के वचनों पर रची गई है । पाठक इसका मनन और विचार करें ।

वेदमन्त्रों में जो सूचनाएँ मिलती हैं, उनका समावेश इस घोषणा में करनेसे यह घोषणा कभी न कभी परिपूर्ण हो सकती है । आज यह केवल ईशोपनिषद् के ही वचनों के आधार पर रची है । ईशोपनिषद् के वचन क्रमपूर्वक लिये हैं । काचित् शब्दों में थोड़ा सा हेरफेर भी किया है, जो अर्थज्ञान के लिये आवश्यक है ।

वेद में जो ईश्वर का वर्णन है, वही मर्यादित स्वरूप में राज्यशासक का वर्णन होता है और उन वचनों से राज्यशासन के नियमों का भी ज्ञान होता है । इस दृष्टि से पाठक इस घोषणा का विचार करें ।

विश्वशान्ति सत्त्वर स्थापित हो ।



आत्मज्ञान

ईशोपनिषद्

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

पञ्चमं व्याख्यानं आख्यसूची भूमिका	१
(१) पञ्चमं व्याख्यानं	५
(२) आख्यायिका का	४
(३) इस सूची के	५
(४) अनेक भाषाओं में एक उत्तर का	६
(५) इस आख्यायिका का	९
(६) इस उपनिषद् का महत्त्व	१
(७) इस आख्यायिका का	५
(८) आख्यायिका का	१५
(९) वेदान्त के आख्यायिका का	१९
(१०) विषय-सूची	१९
(११) ज्ञान और कर्म के अनुसंधान का	२१
(१२) इस आख्यायिका में जो कुछ ज्ञान-सत्य का वर्णन है	२२
(१३) इस आख्यायिका में विवेकशीलता का पक्ष	२५
(१४) आत्मज्ञान की आवश्यकता	२१
(१५) ज्ञान और अज्ञान	२२
(१६) संसृति और अक्षयि	२७
(१७) ईशान और अक्षयि	४१
(१८) एकलोक अनुसंधान	४४
(१९) आख्य	४५
पञ्चमं व्याख्यानं-संहिता-पाठ	(या आख्यायिका अ ४ श्लो) ४७
आख्यायिका-संहिता-पाठ	(कुछ पञ्चमं व्याख्यान अ ४ श्लो) ५
ईशोपनिषद् का अर्थ-संग्रह	५१

ईशोपनिषद् (आत्मज्ञान)

(१) आत्मोपनिषद् मार्ग	५५
(२) आत्मोपनिषद् मार्ग	५६
(३) आत्मोपनिषद् मार्ग	५७
(४) आत्मोपनिषद् मार्ग	५८
(५) आत्मोपनिषद् मार्ग	५९
(६) परमात्मोपनिषद् मार्ग	६०
(७) ज्ञानोपनिषद्	६१
(८) कर्मोपनिषद्	६२
(९) सत्योपनिषद् दर्शन	६३
(१०) उपासना	६४
(११) आत्म-परिष्कार	६५
(१२) प्रथमा	६६
परमेश्वरका नाम-संकीर्तन	६७
परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके प्रवृत्ति करनेयोग्य बोध	६८
सूचना	६९

ईशोपनिषद्में वर्णित मनुष्यकी उत्पत्तिका मार्ग

(१) मनुष्यका साध्य	७०
(२) साधन	७१
(३) कर्ममार्ग	७२
(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र	७३
(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र	७४
(६) आधिदैविक कार्यक्षेत्र	७५
(७) गुरु और अयज्ञ	७६
(८) कर्म, अकर्म और विचर्म	७७
(९) अमरत्व प्राप्ति का मार्ग	७८
सत्यनिष्ठा, सिद्धावलोकन, वेदका आदेश	७९

कविचरित्र भाषा (पञ्चमस्कन्ध)	१ ९
कविचरित्र	"
कवि चरित्र	१ ९
विशेषक वरिष्ठ	११
अधुन ज्ञेय	११९
वचन अन्तर	११४
अभिदेवता	११५
ईशापविग्रह के मंत्रों का तुल्यमात्रक विचार	१०७
ईशापविग्रह के कथास्तर	१३७
ईशापविग्रह के महाकाव्य में	"
इति इति इति इति इति	११८
ईशा उपनिषद् (अथर्ववेद-उपनिषद् के अन्तर्गत उपनिषद्)	११९
मातापिता अथर्ववेद-उपनिषद् के अन्तर्गत उपनिषद्	"
ईशा-उपनिषद्	१ ३
गुरुविद्या का अन्तर्गत ईशापविग्रह के नाम	१ ८
सामर्थ्य की विद्या	१४९
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१५२
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१५३
विश्वकर्मि । अथर्व	१ ९
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१५७
ईशा-उपनिषद् (अथर्ववेद के अन्तर्गत)	१५९
अथर्ववेद के अन्तर्गत	"
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१६१
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१६३
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१६५
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१६६
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१६७
अथर्ववेद के अन्तर्गत	१७१

अष्टम सिद्धान्त—	‘ धृष्टाकी धारणा ’	१७३
नवम	„ ‘ अन्यमार्ग नहीं है ’	१७४
दशम	„ ‘ सत्कर्मका प्रभाव ’	१७४
दोनों मार्गोंकी तुलना		१७५

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासनके तत्त्व (वैयक्तिक तथा सामाजिक) १७७

ग्यारहवाँ सिद्धान्त—	‘ आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति ’	१८०
----------------------	------------------------------	-----

(द्वितीय प्रकरण)

बारहवाँ सिद्धान्त—	‘ अ- सम्पन्शीलत्व ’	१८१
तेरहवाँ	„ — ‘ आद्वितीयत्व ’	१८२
चौदहवाँ	„ ‘ प्रगतिशीलत्व ’	१८३
पंद्रहवाँ	„ ‘ अनुलम्बनीयत्व ’	१८४
सोलहवाँ	„ ‘ प्राचीन परम्परापर आश्रित ’	१८४
सत्रहवाँ	„ ‘ स्फूर्तिशुक्ल ज्ञान-दान ’	१८५
अठारहवाँ	„ ‘ अन्याका अनाक्रमण ’	१८५
उन्नीसवाँ	„ ‘ सुशानिष्ठित स्वार्थ ’	१८६
बीसवाँ	„ ‘ कर्मोंकी धारणा ’	१८७
इक्कीसवाँ	„ ‘ स्थिर रहकर दूसरोंका संचालन ’	१८७
बाईसवाँ	„ ‘ दूर आर पास समान ’	१८८
तेईसवाँ	„ ‘ परस्परवलंबित्व ’	१८८
चौबीसवाँ	„ ‘ एकात्म-प्रत्यय ’	१८९

(तृतीय प्रकरण)

पच्चीसवाँ सिद्धान्त—	‘ शारीरिक दोषोंसे विघ्न न हों ’	१९०
छ बीसवाँ	„ ‘ पवित्रता रहे ’	१९१
सत्त ईसवाँ	„ ‘ ज्ञाना और कर्तृत्ववान् राजपुरुष ’	१९२
अठ्ठाईसवाँ	„ ‘ यथायोग्य स्थायी अर्थ व्यवस्था ’	१९३

(चतुर्थ प्रकरण)

त्रिंशत्सेत्र	(शिक्षा विभाग)	१९४
---------------	------------------	-----

कर्मयोगी विद्वान्त— वात्सल्य और प्रकृति विज्ञानका सम्बन्ध ११४
कर्मयोग ११५

टीका— विद्वान्त— समाज का व्यक्तिका यह विचार
हृदयगत— पुनर्जीवित जागते राजयोगी शर्मा ११७
वर्तमान— कल्याणकारी कर्म शर्मा ११
टीका— १११
वर्तमान— कर्मका कारण १
टीका— मार्ग की सुखाता १
वर्तमान— कर्मका पराजय १ १
टीका— सुखिताभी सु करवा १
वर्तमान— ईश्वर की मति १
वर्तमान— १ १

ईशोपनिषद्ने बताया है राजयोगी शर्मा के लक्ष्य १०३

- (१) राजा और व्यक्तिगतरी कैसे हो ?
(२) राजा की शिक्षा का लक्ष्य १ ४
(३) धर्म और मार्ग की सुखाता १
(४) धर्म और धर्मकी शक्ति १
(५) समाज—व्यवस्था, समाज और व्यक्तिका सम्बन्ध १ ५
(६) समाज और धर्म १
(७) राजा का लक्ष्य १ ६
(८) राजा का लक्ष्य १ ७
वर्तमान—समाज—व्यवस्था और धर्म १
(१) समाज धर्म १
(२) यह विचार पूर्ण है (३) प्रकाशित व्यक्तिगत का लक्ष्य १ १
(४) व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध १
(५) समाज और धर्म (६) धर्मका समाज १ १
(७) यह धर्म राजा है (८) सुखाताभी कर्म करवा १

(९) सौ वर्षोंका पूर्ण आयुकी प्राप्ति	२११
(१०) कर्त्ताकी दोषसे मुक्ति, (११) दूसरा मार्ग नहीं है	"
(१२) आसुी लोगोकी पृथक् गणना, (१३) न डरनेवाला शासन	२१२
(१४) अद्वितीय शासन, (१५) मनसे भी वेगवान्	"
(१६) अन्योको आधिकारके स्थान नहीं मिलेंगे	"
(१७) गुणोंको घेरनेका सामर्थ्य, (१८) स्थायी शासन	२१३
(१९) कर्मोंकी धारणा	"
(२०) स्थिर रक्षक उ साह प्रदान करना	"
(२१) कर्मोंपर आर दूर रहनेपर भी समान शासन	"
(२२) शासन और शास्य की सहकारिता	२१४
(२३) एकात्मकताका अनुभव	"
(२४) शरीर व्रण-रोगादि दोषरहित रहेगा	"
(२५) शुद्ध और पापरहित	"
(२६) ज्ञानी और सयमी शासक होंगे	"
(२७) शाश्वत अर्थ व्यवस्था	२१५
(२८) ज्ञान और विज्ञानका सहयोग	"
(२९) व्याक्ति और समाजका सहविकास	"
(३०) सत्यका दर्शन	"
(३१) कल्याण-स्वरूपका दर्शन	२१६
(३२) अमर प्राण और नाशवान् शरीर	"
(३३) निःश्लोक्ता	"
(३४) साध्य और साधनकी शुद्धता	२१७
(३५) कर्मोंकी परीक्षा	"
(३६) कुटिलता और पापसे शुद्ध	"
(३७) ईश्वरकी भक्ति	"

